॥ ओ३म् ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

जीवन-निर्माण

लेखक :
महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज

प्रकाशक :
श्रीमती विद्यावती नारंग धर्मपत्नी श्री महेन्द्र प्रताप
नारंग, परिवार, बसन्त विहार, देहली।

तृतीय बार ११००] सम्वत् २०५४ वि० [भेंट : 12-00

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

जीवन-निर्माण

लेखक :
महात्मा प्रभुआश्रित जी महाराज

प्रकाशक :
श्रीमती विद्यावती नारंग धर्मपत्नी श्री महेन्द्र प्रताप
नारंग, परिवार, बसन्त विहार, देहली ।

तृतीय बार ११००] सम्वत् २०५४ वि० [भेंट : 12-00

॥ ओ३म् ॥

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन-निर्माण' का प्रथम संस्करण श्री राजेन्द्र जी गुप्ता सुपुत्र श्री राधेमोहन गुप्ता व श्रीमती शकुन्तला देवी गुप्ता (बंगाली मार्केट, २ बाजार लेन देहली) के शुभदान से प्रकाशित हुआ था सं० २०२८ वि० सन् १९७१ में। इसका द्वितीय संस्करण भी इन्हीं माननीय राजेन्द्र जी गुप्ता तथा श्री पुरुषोत्तम जी आर्य, बन्सीराम एण्ड सन्स आगरा तथा श्री जेसाराम जी आर्य के सम्मिलित सहयोगी द्रव्य से सं० २०४८ वि० सन् १९९१ में प्रकाशित हुआ जिसके लिए वै० भ० आश्रम के तत्कालीन अधिष्ठाता श्री पं० लखपति जी शास्त्री तथा वर्तमान अधिष्ठाता पूज्य म० व्यासदेव जी की सत्प्रेरणा प्रशंसनीय रही है।

अब तीसरा संस्करण श्री महेन्द्र प्रताप, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती नारंग परिवार वसन्त विहार देहली निवासी के शुभ द्रव्य से प्रकाशित किया जा रहा है इसके लिए माननीय श्री महात्मा व्यासदेव

जो वानप्रस्थी वर्तमान अधिष्ठाता जी की सत्प्रेरणा प्रशंसनीय है।

हम उक्त सभी महानुभावों का बहुत-बहुत धन्यवाद करते हुए परम कृपालु परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह इन सब पर अपनी कृपा सदा बनाये रखें। जिससे ये दानी सज्जन अपने पवित्र मानव जीवन को कल्याणार्थ मार्ग पर लगाये रहें।

शुभाकांक्षी—
प्रभुभिक्षु

तृतीय संस्करण
सं० २०५४ वि०
सन् १९९७ ई०

कृते
महात्मा प्रभु आश्रित साहित्य
प्रकाशन विभाग
वैदिक भक्ति साधन आश्रम,
रोहतक-१२४००१ (हरियाणा)



❋ आर्यसमाज के नियम ❋

१–सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२–ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३–वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४–सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५–सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएं।

६–संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७–सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्त्तना चाहिये।

८–अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९–प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०–सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

वैदिक भक्ति साधन आश्रम, रोहतक के नियम

इस आश्रम में जीवनोत्थान की साधनायें और श्रेष्ठतम कर्मयज्ञ वर्ष भर बराबर होते रहते हैं। योग के बिना मनुष्य न तो पूर्ण विद्यावान हो सकता हैं और न परमात्मा आत्मा तथा प्रकृति का साक्षात् कर सकता है। बिना भक्ति के योग सिद्ध नहीं हो सकता। भक्ति के दो पर हैं शिवसंकल्प और जितेन्द्रियता। भक्ति वैदिक होनी चाहिये।

उसके लिए इस आश्रम में पधारें।

ॐ नियम ॐ

१–आश्रम में पांच प्रकार के व्यक्ति रह सकते हैं :—
साधु, साधक, दर्शक, सत्संगी और सेवक।

क) साधु—जो नाम और काम से साधु है।

ख) साधक–जो साधना के लिए रहे। जिसके आधीन वह साधना करेगा उसकी आज्ञा का पालन करना होगा। त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करता रहेगा।

ग) दर्शक–जो दर्शनार्थ आया है वह उचित समय से अधिक नहीं ठहर सकेगा। साधु साधक की सेवा तथा वार्तालाप करके उसे चला जाना चाहिए।

घ) सत्संगी—यज्ञ के दिनों में अथवा यज्ञ से पूर्व सत्संग के निमित्त रह सकता है, जब तक उसकी आवश्यकता पूरी न हो।

ङ) सेवक सेवा के लिए रह सकता है जब तक सेवा कार्य उसके जिम्मे हो।

२—मादक द्रव्य का प्रयोग निषेध :—

क) आश्रम के अन्दर किसी भी व्यक्ति को किसी भी अवस्था में मांस मदिरा तथा धूम्रपान की अनुमति नहीं होगी।

ख) आश्रम के निवासी आश्रम के बाहर भी मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं कर सकेंगे।

३—स्थाई रूप से आश्रम में व्यक्ति तब तक रह सकता है जब तक आश्रम के नियमों का पालन करता रहे।

४—समय विभाग तथा मौन—

आश्रम में यज्ञ के दिनों के अतिरिक्त दिनों में भी यज्ञ के नियम लागू हैं। सूर्यास्त के आधे घण्टे बाद से एक घण्टा पर्यन्त और प्रातः हवन यज्ञ के समय तक सब को मौन रहना होगा।

५—आश्रम वासियों का आश्रम के यज्ञ तथा सत्संग आदि में शामिल होना अनिवार्य है।

६—अपने-अपने स्थान को स्वयं साफ करना होगा।

७—सेवक को अपना भाई समझ कर उससे कार्य लिया जाएगा।

८—आश्रम में व्यर्थ का हल्ला गुल्ला करने की अनुमति नहीं होगी।

९—आश्रम के नियम पालने में सबको अधिष्ठाता के निर्देशों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। (अधिष्ठाता)

॥ ओ३म् ॥

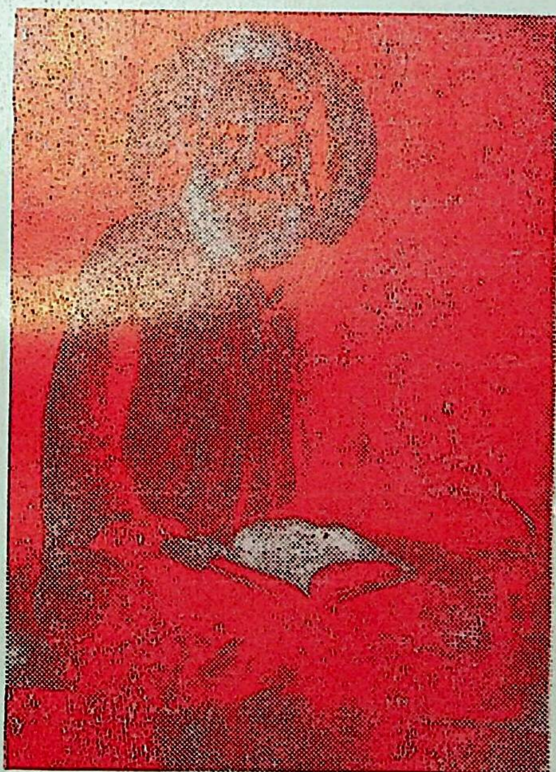
—: विषय-सूचि :—

जीवन-निर्माण

—:०:—

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्



श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

॥ ओ३म् ॥

जीवन-निर्माण

२-५-४६ बृहस्पतिवार ८ बजे सायम्
२० वैसाख २००३ वि० एकम् (शुक्लपक्ष)

"विवाह—अन्धकार का—मोह काम का मारक है"

विवाह संस्कार में वर का जब स्वागत करके कन्या उसे आसन देती है तो वह अपने आप को सूर्य की उपमा देते हुए आसन्न बिछा ऊपर बैठ जाता है।

'ओं वर्षोऽस्मि समानानां उद्यततामिवमव सूर्यं।...'

विवाह संस्कार कराते हुए मुझे अपने भीतर ही यह बात कई बार खटकती थी कि जिसका भी विवाह होता है वही अपने को नक्षत्रों में सूर्य के समान कहता है। कुल, विद्या, आचार शरीर बल में अपने को सबसे श्रेष्ठ कहता है। भला यह कैसे हो सकता है? एक ही गुरुकुल से ब्रह्मचारी एक ही समय निकलें तो सब में अन्तर रहता है। विवाह में सब कोई सूर्य बन जाता है। इस समय भजन में बैठे हुए प्रभु की कृपा से उसका रहस्य प्रकट हो गया।

उषा अपने आप में स्थिर नहीं रहती। वह अपने को सूर्य नारायण के अर्पण करके सूर्य नाम से एक हो

जाती है और अपना नाम मिटा देती है। कन्या भी अपनी जाति को (या अहं को) पति के अर्पण करके अपनी जाति (या अहं) को मिटा देती है अर्थात् कन्या नहीं रहती और पति के नाम तथा जाति में एक हो जाती है। जब सन्तान होती है तो सब कोई कहता है अमुक का पुत्र है, स्त्री के नाम से नहीं पुकारा जाता, पुरुष के नाम से पुकारा जाता है। वह अन्धकार क्या है ? सूर्य के प्रकाश को रात्रि ने हड़प कर लिया था अर्थात् मानव ज्ञान को मोह नें ग्रस लिया। रात्रि मोह और काम की देवी है। निन्द्रा और विषय की अधिष्ठान है। इस मोह के बन्धन को तोड़ने के लिए उषा अर्थात् कन्या का जन्म हुआ। इसी लाजाहोम परिक्रमा में कन्या प्रभु से पुकार रही है—'स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः' मुझे पितृकुल से छुड़ाओ और पति-कुल से अलग न होऊं।

इसकी पूर्ति के लिए वर जब अपनी वधु के बाल ठीक करने के लिए ले जाता है तो कहता है—

'ओं प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्यपाशात् ऋतस्य योनौ सुकृतस्यलोके' मोह के बन्धन से छुड़ाकर ऋत अर्थात् प्रकृति नियम के अनुसार मैं "पति" उत्तम कर्मों के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ।

मोह और काम मिलकर सारे संसार के आवागमन का चक्र बनाने वाले हैं ।

—०—

३-५-४६ शुक्रवार ४ बजे प्रातः २१ वैसाख २००३ वि० द्वितीया (शु०)

सुखी सम्पन्न क्या करें, क्या कहें ?'

गृहस्थी व्यवहारी लोग जो अच्छे सुखी सम्पन्न हैं वे दो प्रकार से प्रकट होते हैं । एक तो कहता है "सब कुछ प्रभु का दिया हुआ है ।" दूसरा कहता है, मैं Self-made स्वयं ऐसा बना हूं । "यह सब कुछ मैंने कमाया है । कौड़ी पास न थी किन्तु आज......यह सब अपने पुरुषार्थ का फल है ।" दोनों सच्चे हैं । अब उनको वैसा ही करना चाहिये, जैसा कह रहे हैं । जो कहता है यह सब कुछ प्रभु का दिया हुआ है, मानो उसने कोई पुरुषार्थ अब नहीं किया । बनी बनाई उसे मिली है तो अब उसका काम है प्रभु विश्वास पर वह खूब देवे । प्रभु का दिया प्रभु को देवे । क्योंकि प्रभु तो कहता है, 'देहि में ददामि ते' तूने मुझे दिया था

मैंने तुझे दे दिया। तू मुझे देगा तो मैं फिर तुम्हें दूंगा।

दूसरा जो कहता है—यह सब मैंने कमाया है। कौड़ी पास न थी। उसे चाहिए अपनी कमाई अपने साथ ले जावे। यदि अपनी कमाई को यहां रख गया तो अगले जन्म में फिर कौड़ी भी पास न होगी और पुरुषार्थ बुद्धि भी न होगी।

यदि तू धारण न करेगा तो गांठ खाली रह जायेगी। जिन उपायों से अपनी कमाई को अगले जन्म के लिए धारण कर सकता है वैसी धारणा बुद्धि बनावे जो उसकी कमाई को अगले जन्म में देने के लिए टिक सकते हैं, उनको धारण करावे।

—०—

'साधक को परामर्श'

१० बजे

लोक व्यवहार में यदि कोई बड़ा होकर अपने को छोटा प्रकट करता है तो उसकी उन्नति सन्तोषप्रद नहीं होती। अपनी बड़ाई के मान के बल पर ही वह भली-भांति उन्नति कर सकता है। परन्तु आध्यात्मिक

मार्ग में यह नियम है कि जब मनुष्य अपने को बड़ा समझने लगता है तभी उसकी भारी उन्नति रुक जाती है। बहुत से मेरी भांति के साधक इसी भंवर का शिकार बन चुके हैं। जहां आरम्भ (१९२३–२४ के वर्षों) में मैं अपने को प्रभु के समीप या प्रभु को अपने बहुत समीप समझता था अब इस व्रत में यह जाना है कि मुझे अभी अनेक गुरुजनों का सत्संग करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्मविद्या की पुस्तकों के स्वाध्याय से कहीं-कहीं कोई बात समझ में नहीं आती है। शेष सब ऊपरी स्तर पर रह जाती है। और जो बात समझ में आती है उस पर क्रिया करने के लिए विघ्न और रुकावटों को दूर करने के लिए मुखारविन्द से सुनने, समझने की आवश्यकता है। मैं चकित होता हूं कि अब तक मैं कैसे अपने आप में सन्तुष्ट रहा हूँ और कैसे प्रचार कार्य करता रहा हूँ वह तो न के बराबर था और अब कुछ के बराबर। तुच्छ जो पता लगता है, इसी के भी समझने की अभी आवश्यकता अनुभव करता हूँ। धन्य हैं वे जिन्हें अपने जीवन में सन्तोष होगा और वे ही दूसरों को सन्तुष्ट कर सकते हैं।

—०—

८-५-४६ बुधवार ४-५ बजे प्रातः २६ वैशाख २००३ वि. अष्टमी (शु.)

'ज्ञान के अधीन कर्म ही सन्मार्ग है'

प्रभु का प्रकाश ऊपर के लोक से नीचे अवतरण होता है मनुष्य अपना प्रकाश नीचे से ऊपर बनाता है। अग्नि सदा भूमि पर जलती और ऊपर को प्रकाश करती है। नीचे वाला प्रकाश पूरा नहीं प्रविष्ट होता। ऊपर का सब स्थान भर देता है। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां ऊपर और कर्मेन्द्रियां नीचे हैं जब नीचे का कर्म ऊपर ज्ञानेन्द्रियों में समा जाता है तो ज्ञान पर अन्धकार से कर्म नीचा हो जाता है। जब ऊपर की ज्ञान इन्द्रियों का प्रवेश नीचे कर्म इन्द्रियों में हो जावे तब पाप से रक्षा हो जाती है। उदाहरण—

मूत्रेन्द्रिय (कामजन्यइन्द्रिय) का समावेश आंख में हो जाता है तब मनुष्य का चित्त मैला पाप करने पर उद्यत हो जाता है और जब कान में आ जावे तो कान वार्ता ही अश्लील सुनता है। ऐसे जब वाणी पर आ जावे तो कामजन्य बातें कहता या कहनेमें रुचि मानता

है। किन्तु जबकि मनुष्य की आँख ज्ञान इन्द्रिय की सावधान दृष्टि मूत्रइन्द्रिय में प्रविष्ट हो जावे तो उसे उत्तेजना से भी दबा देती है।

ऐसे हाथ जब ऊपर की ओर समावेश करे तो मनुष्य लूट-खसूट, आँखें बन्द करके पाप का व्यवहार करता है। और जब आंख हाथ की चौकसी करे तो वह न्याय और दान-पुण्य आदि में उठता है। इसलिए प्राकृतिक नियम के अनुसार मनुष्य को ज्ञान ऊपर के लोक से अर्थात् सही ज्ञान प्रभु का प्राप्त करके कर्म में प्रविष्ट करना चाहिए। चित्त, मन में जब ऊपर का ज्ञान उतर आवे तब वह भी शान्त और सीधा मार्ग चलते हैं। नीचे से प्राकृतिक, व्यावहारिक, सांसारिक ज्ञान से कर्म दूषित हो जाता है।

—०—

१० बजे रात

प्रभु से सम्बन्ध

वेद भगवान् तो बतलाता है—पिता पुत्र का सम्बन्ध जीव ब्रह्म का है :—

'ओं स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव। सचस्व नः स्वस्तये।'

जैसे पुत्र-पिता के मध्य में कोई रुकावट नहीं है या सिफारिस की आवश्यकता नहीं है। इतना सुगम है कि बच्चा दौड़ता हुआ पिता की गोदी में जा बैठता है, परन्तु करोड़ों जन्म व्यतीत हो गये, हम मनुष्य न मिल सके। भक्त आश्रित होता है, भगवान हैं आश्रय और उसके तीन उत्तम प्रकार हैं।

बंदरी के बच्चे, बिल्ली के बच्चे, गाय के बच्चे की तरह सब बच्चों को अपनी मां से प्रेम होता है और सब बच्चे मां ही के आश्रित रहते और पलते हैं परन्तु उपर्युक्त तीन पशुओं से भेद का ज्ञान होता है। गाय को अपने बछड़े से अत्यन्त प्रेम होता है। वेद में उदाहरण प्रेम का यदि आता है तो गाय और उसके बछड़े का। उसी नाम से प्रभु को भक्तवत्सल कहा गया है। वत्स कहते हैं बछड़े को। गाय का बच्चा मां के पास विद्यमान है वह उसे अपनी जिह्वा से चाट-२ कर उसको न केवल प्यार करती है अपितु उसके शरीर के

बालों को संवारती, सुन्दर बनाती है। किन्तु स्वामी जब गाय को ग्वाले के साथ भेज देता है और बछड़े को घर बांध रखता है तब यह दशा हो जाती है कि जिस समय गाय वापस घर आती है बछड़ा उस समय पुकारता है और गाय माता दौड़ती रंभाती हुई जाती है।

दूसरा बन्दरी का बच्चा स्वयं उसकी छाती से ऐसा चिमठ जाता है और मुट्ठियां बांधे रखता है कि जहां छलांग लगाती हैं बच्चा साथ पहुंचता है। बन्दरी स्वयं इसमें कुछ सहायता नहीं करती। यदि बच्चे की मुट्ठी छूट जावे, काबू न हो, तो वह गिर पड़ता है। तीसरा बिल्ली का बच्चा, यह ऐसा अर्पण या आश्रित है कि वह स्वयं बिल्ली को नहीं चिमटता अपितु बिल्ली स्वयं उसे पकड़े रहती है और अपने साथ ले जाती है। यही भेद सच्चे भक्तों के हैं। शेष सब विषय भक्त हैं। ऐसे भक्त विरले हैं जो ठीक समय पर सच्चे मन से पुकार करते हैं। शरीर उनका कर्तव्यों से बंधा है किन्तु मन उनका प्रभु की ओर लगा है। जैसे गाय का बच्चा स्वामी की अधीनता से बचा हुआ है और गाय

भी पराधीनता से चरने गई है। परन्तु मन उसका भी बछड़े में है। मन के सच्चे भक्त साँसारिक सब कर्तव्यों को शारीरिक कर्तव्य या (कर्म) जानकर करते हैं। मन (उन) दायित्वों में नहीं रखते हैं। मन प्रभु में रहता है। दूसरे, बन्दरी के बच्चे के समान कि स्वयं प्रभु से दिन रात चिमटे रहते हैं अपने लिए, न कि प्रभु के लिए अपने आत्म कल्याण के लिए। तीसरे बिल्ली के बच्चे के समान जिन्होंने सर्वस्व अर्पण करके उसी के हो गये, अपना विचार ही नहीं रहता। उन्हें प्रभु आप उठाये फिरता है यन्त्र रूप से घुमा, काम करा रहा है।

—:o:—

९-५-४६ बृहस्पतिवार ४ बजे प्रातः २७ वैसाख
२००३ वि. नवमी (शुक्ला)

प्रभु चाहिये वा प्रभुता ?

जो मनुष्य केवल प्रभु को चाहता है और कुछ भी प्यारा नहीं लगता, उसके लिए तो सब संसर्ग बाधक हैं और जो आदर की रोटी, आदर का रहन-सहन और सुख का अभिलाषी है, उसे सब से बना के रहते

की आवश्यकता है। संगठन और प्रेम, हमें दोनों से सुख और आदर सब प्रकार से मिलता है। परन्तु इन दोनों के लिए ज्ञान की आवश्यकता है जो सत्संग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। एकान्त स्वाध्याय करने वाला मनुष्य इस उपर्युक्त अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता। केवल प्रभु प्राप्ति के लिए ऐसे स्वाध्याय से ज्ञान की आवश्यकता है जो वैराग्य को परिपक्व करे। आदर से सुख का जीवन व्यतीत करने के लिए ऐसे ज्ञान की आवश्यकता है जो जनता के साथ प्रेम उत्पन्न और परिपक्व करे। अतः यह ज्ञान सत्संग द्वारा मिलता है। जब तक मनुष्य को पूर्ण रूप से मुक्ति या प्रभु दर्शन की इच्छा नहीं होती तब तक उसे अवश्य सामूहिक सत्संग का आश्रय लिए रहना चाहिये।

यजुर्वेद के अध्याय २० मन्त्र ४४ से इस बात की पुष्टि होती है।

ओं त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥

भावार्थ—जब तक मनुष्य, शुद्धान्तःकारण नहीं होवे, तब तक विद्वानों का संग स्वाध्याय और प्राणा-

याम का अभ्यास किया करे जिससे शीघ्र शुद्ध अन्तः करण हो।

—:०:—

१०-५-४६ शुक्रवार १० बजे प्रातः २८ वैसाख २००३ वि० दशमी (शु०)

साधक सावधान !

धन्य हो ! प्रभु धन्य हो ! आज मैं चकित हो रहा था कि मेरी तो कुछ समय से ऐसी धारणा बन गई थी कि जिस रात को मुझे दूध के बदले खाने को दाल मिल जाती है उसका प्रभाव प्रातः के भजन में बहुत सूक्ष्म और गुप्त विचार प्रभुदेव से प्राप्त होते हैं। रात को बिना इच्छा या कहे के अपने आप दाल मिलने का योग बन गया। फिर आज प्रातः गुप्त प्रसाद तो दूर रहा भजन में भी नींद और भुलावा पड़ता रहा। ऐसा प्रतीत हुआ कि आज मूढपन आ गया है। कोई चेष्टा (या गति) मतिष्क में होती ही नहीं। तो इस समय दस बजे क्या गहरी बात अन्तर से मिली कि यदि मैं प्रभु की कृपा का पात्र होऊं, प्रभु दरबार में समझा जाऊं तो बात गांठ बांध लूं और

सदा सामनें रखूं (सब वस्तुओं से वह इच्छा चाह नहीं जो दाल से अभी तक बाकी है दाल से चाह, जा भी शायद नहीं सकेगी क्योंकि दाल टब्बरपाल, गरीबों का खाज, लंगर का मुख्य पदार्थ है। दरिद्रनारायण की दात है। निर्धन ही नहीं खाते अपितु धनी को भी मन का गरीब बनाने वाली वस्तु (दाल) है। (दिल का गरीब अर्थात् विनम्र निरहंकार बनाती है।) मेरे तो मन को भाती और मस्तिष्क को प्रभाती (ताजा करती है।

सांसारिक मनुष्य की उन्नति दो बातों से

भोग का सामान ग्रौर मान अधिकाधिक होने से सांसारिक उन्नति गिनी जाती है।

अध्यात्म मार्ग को उन्नति दिव्य दृष्टि और दिव्य ज्ञान से मानी जाती है। सांसारिक मनुष्य को भोग की वृद्धि तो पूर्व पुण्य कर्मों से और मान वर्तमान काल के पुण्य से और गुण से प्राप्त होता है। यद्यपि मान भी पूर्व कर्मों का फल है परन्तु वह किसी पुरुषार्थ से नहीं बल्कि गुण से मिलता है। किन्तु दोनों बातें अध्यात्म मार्गी को ग्रपने गुण से प्राप्त होती है। इव

दोनों की अधिकता तो हानिकारक नहीं किन्तु इनका स्पर्श जब मन से, हृदय से होने लगता है तो अध्यात्म मार्गी का मार्ग रुक जाता है। कैसे ?

भोग सामग्री अधिक हो जाने पर यदि मन से स्पर्श होने लग जाये तो मोह को खड़ा कर देती है। इस मोह से मन में असत्य या मिथ्या संकल्पों की उत्पत्ति होती रहती है जो द्वेष की सीमा तक चली जाती है। इससे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति बन्द हो जाती है। योग दर्शन में दिव्य शब्द की प्राप्ति के लिए जिह्वा के मूल भाग में संयम करने की विधि है। और जब मिथ्या संकल्प उत्पन्न होते हैं तब यह मूल भाग मन का सहायक होता है। इसलिए असत्य का राज हो जाने से मूल भाग की शक्ति नष्ट होने लग जाती है। तब अन्तरात्मा से दिव्य शब्दों, दिव्य ज्ञान या दिव्य उपदेश की सुनाई नहीं देती। मान के अधिक हो जाने पर जब मान मन से स्पर्श करने लग जाता है तो काम कुवासनाएं उत्पन्न होने लगती हैं। काम क्रीड़ा स्त्रियों के सुन्दर रूप आकारों के बिना उत्पन्न नहीं होती

और ये ही सुन्दर आकार रूप प्रत्यक्ष में या भीतर में या समूह में या एकान्त में बार-बार सामने आनें लग जाते हैं। तब दिव्य दृष्टि समाप्त हो जाती है। दिव्य दृष्टि का अर्थं है मुक्त जीवों, सिद्ध पुरुषों, योगी महात्माओं के दर्शन समय-समय पर होने केवल दर्शन या दर्शन के साथ उनका स्पर्श और मार्ग प्रदर्शन भी होता है जैसे स्वप्न में मनुष्य कई प्रकार के प्राणियों के मरे हुओं या जीवितों के दर्शन करता है। ऐसे वह अध्यात्म मार्गी स्वप्न के बदले योग निद्रा मै दर्शन करता है। उसकी अपनी आंख में भी दिव्यता आ जाती है। स्वप्न मैं जिनके दर्शन किये जाते हैं, चाहे वे व्यक्ति साधारण हों या बहुत पवित्र आत्मा प्रसिद्ध हों वे अपने ही लगाव से होते हैं और उन ऊपर के महान् पुरुषों के दर्शन बिना किसी लगाव, अर्थ या चाह इच्छा संकल्प या इरादा के होते हैं। इस दिव्य दृष्टि को प्राप्त करनें के लिए योग दर्शन में तालुस्थान पर संयम करनें की विधि बताई है। यह स्थान बहुत कोमल पोला सा है। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो इसके सिर में ऊपर भी तालूरन्ध्र बहुत पोला होता है। उस समय उसे पूर्ण

जन्म स्मरण होता है। यह पवित्रता का चिन्ह है, ज्योति का स्थान है। बड़े होने पर ऊपर तो कठोर हो जाता है किन्तु नीचे कण्ठ में तालु सबका वैसा पोला रहता है। कई योगी दिव्य दृष्टि, दिव्य ज्ञान को परिश्रम से या अकस्मात् पूर्वले कर्मों से प्रभु कृपा से प्राप्त कर लेते हैं किन्तु मान या भोग ऐश्वर्य के मान-स्पर्श से धीरे-धीरे खो बैठते हैं। उन्हें पता नहीं लगता कि यह क्यों हो गया ? आत्मा को, जो प्रभु से इच्छा शक्ति मिली हुई है या आत्मा की अपनी निज पूंजी समझो, जैसे परमात्मा का ईक्षण होता है, वह निर्बल हो जाती है। सब कुछ उसके पास वैसे का वैसा है किन्तु इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाने से वह अपनी विभूति को प्रत्यक्ष नहीं देखता। जैसे एक पहलवान जो सब प्रकार के ढंग की कुस्ती जानता है और प्रसिद्धि सफलता प्राप्त करता है, जब वह विवाह कर लेता है तब वह सब ढंग जानता हुआ भी शरीर में मोटा और अच्छा भोजन खाता हुआ भी अब वह पहलवानी नहीं कर सकता क्योंकि इसकी क्रियाओं को सफल करने वाली शक्ति वीर्य सुरक्षित नहीं रहा। ऐसे ही

दिव्य-दृष्टि दिव्य-ज्ञान विभूति को प्रत्यक्ष करने के लिए इच्छा-शक्ति निर्बल हो चुकी होती है।

दिव्य-ज्ञान का प्रत्यक्ष वाणी (वाक्) और हाथों से हुआ करता है। उसके लिखने और भाषण में सादगी, सरलता और गहराई का प्रभाव होता है। दिव्य-दृष्टि का प्रत्यक्ष उसकी अपनी आंख से हुआ करता है। जहां काम-जन्य आकार दिव्य-दृष्टि को समाप्त करने वाले होते हैं, वहां इस दिव्य-दृष्टि के ऐसे प्रयोग से भी कि जिससे अध्यातम-मार्गी अपनी कामना, आकांक्षाओं को पूरा करने में लगाता है, वहां से वह इच्छा-शक्ति को निर्बल बनाता है। कैसे ?

एक योगी में यह शक्ति दिव्य-दृष्टि की शक्ति प्राप्त है। जब उसका मन मान का इच्छुक हो जाता है तो वह अपने को पूज्य-बुद्धि समझने से चाहता है कि बड़े-बड़े लोग (व्यक्ति) उसके अधीन हो जावें। तब वह अपनी दिव्य-दृष्टि के द्वारा इच्छा-शक्ति का उन पर प्रयोग करने लगता है और निश्चित है कि वह सफल हो जावे। दूसरे की चित्त शक्ति को अपने आधीन कर लेवे। जब वे बड़े व्यक्ति उसके ऐसे प्रयत्न से उसके सामने झुक

जाते हैं तब वह अपनी सफलता पर न केवल प्रसन्न होता है, बल्कि अधिक इतराता है।

इसलिए उसकी इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है अर्थात् मान, दो शक्तियों का नाश करता है–दिव्य-दृष्टि और इच्छा-शक्ति। यही ही अध्यात्म-मार्गी की सम्पत्ति हैं जिससे अपनी उन्नति करनें और दूसरे का उत्थान कल्याण करता है।

—ॐ—

२

मानसिक-शक्ति

(Wireless)

पृथ्वी तल पर जैसे बेतार द्वारा एक स्थान की दूसरे स्थान को या एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य को सूचना मिल जाती है ऐसे ही प्राकृतिक नियम से एक बलवान मानसिक शक्ति वाला अपने संकल्प को दूसरे के मन तक तो पृथ्वी तल पर पहुंचा सकता है। परन्तु ऊपर के लोक से सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता है। उसके

लिए योग की वही दो विभूतियां दिव्य-दृष्टि, दिव्य-ज्ञान जिसे संयम द्वारा प्राप्त हैं, वह ऊपर के लोक से बिना तार के सम्बन्ध जोड़ सकता है।



११-५-४६ शनिवार २४ वैसाख एकादशी (शुक्ल पक्ष) सं० २००३ वि०

३, ३० बजे सायम्

विवाह एक रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक प्रथा

जब किसी के लड़के-लड़की का विवाह होता है, उस समय घर वाले, माता-पिता और स्वयं वर या वधु सब सम्बन्धी बड़े प्रसन्न होते और हर्ष के गीत गाते हैं। न केवल सभ्य जातियों में बल्कि उन असभ्य जातियों में भी जो कच्चा मांस खा जाने वाली हैं, लुटेरे और डाकू हैं, जिन्हें मनुष्य के बच्चे को मारते हुए लेशमात्र दया नहीं आती, इतना हर्ष, इतना बड़ा व्यय, हुलास आडम्बर सब काम छोड़कर एक काम में निमग्न क्यों हो जाते हैं ? इस हर्ष का कारण कोई आध्यात्मिक होना चाहिए अन्यथा यह हर्ष मनुष्य-मात्र में एक समान नहीं मनाया

जाता । आत्मा में आत्मा के धर्म में, प्राकृतिक नियम में प्रत्येक स्थान पर एक समानता नियत है । जहां शारीरिक या बौद्धिक सम्बन्ध होंगे वहां एक जैसा वर्ताव कभी न होगा । सब बातें, जो इस हर्ष के कारण में कही जाती हैं, वे सब बौद्धिक हैं । संभव तो है, परन्तु अवश्य हो जाने वाली, हो सकने वाली नहीं । जब कोई कहता है कि अच्छा जी ! विवाह हो गया, अब वंश वृद्धि होगी । या ऋण से उऋण हो गया, या सेवा करने वाले घर में आ गये । हर्ष मनाने वाले स्वयं नहीं जानते कि यह हर्ष वास्तव में हम क्यों कर रहे हैं । जताना और जानना चाहिए ।

मनुष्य ही एक जाति है जिसका सम्बन्ध मानसिक और आत्मिक विकास या शान्ति या उन्नति से है और किसी जाति में नहीं । इन तीनों गुणों में बाधक पापवृत्ति है । असंख्यात प्राणी हैं जो बेलगाम (लम्पट) हैं और अरबों मनुष्यों में से भी कुछ व्यक्ति जन्म जन्मान्तर के तप ज्ञान के प्रताप से ऐसे हैं जो कहते हैं कि विवाह हमारे मार्ग में रुकावट हैं । वे अपनी इन्द्रियों पर बहुत सुगमता से अधिकार पा लेते है । शेष करोड़ों, अरबों मनुष्यों का इन्द्रियों पर नियन्त्रण पाना

अत्यन्त कठिन है। उन सब इन्द्रियों में से प्रबल वृत्ति पाप कराने वाली, अपयश कराने वाली परमात्मा से दूर ले जानें वाली कामजन्य इन्द्रिय है। वह मनुष्य बड़ा सौभाग्यवान है जिसकी सन्तान पाप से बच जावे। वह मनुष्य बड़ा अभागा है जिसकी सन्तान का जीवन पापमय होकर सारे वंश को कलंकित कर देने वाला हो। कितना सौभाग्य है उन मनुष्यों का जिनको, विवाह कर देने पर, इस पाप से निश्चिन्तता हो जाती है। नवयुवक को शरीर और मन से पतित होवें में प्रत्येक समय भय लगा रहता है। वह नवयुवक जो विवाह कर लेता है यदि वह मुक्ति का अभिलाषी नहीं तो भी कोई हानि नहीं। वह अपना जीवन मुमुक्षुओं के समान संयम का न व्यतीत कर सकेगा तो भी पाप, दुराचार, भय, लज्जा अपयश से तो सदा बचा रहेगा। स्त्री का अपने एक पति में सन्तोष और पति का अपनी एक पत्नि में सन्तोष, क्या कोई थोड़ी बात है? जिन लोगों के स्त्री नहीं या मर गई या प्राप्त नहीं कर सकते उनके चित्त के भीतर प्रविष्ट होकर एक बार देखो तो तुम्हें मानसिक जीवन की अशान्ति और पाप वासनाओं का चित्त भयभीत कर देगा। अहा! क्या सुन्दर शब्द पाणिग्रहण के मन्त्रों में बोले जाते हैं! मैं तुम्हारे हाथ

को अपने सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ। मनुष्य जीवन का सौभाग्य रमण में है। परन्तु वह रमण जो पाप का दमन करने वाला हो। उस गृहस्थी को प्रभु का दिन-रात धन्यवाद गाना चाहिए और उस जोड़ा को जो विवाहित हो गया है, अपने प्रभु को कदापि नहीं भुलाना चाहिए जिसे प्रभु ने पाप से बचने की मशीन प्राप्त करा दी। स्त्री को धर्मपत्नि कहा गया कि पति को अधर्म से बचावे। इसका विश्वास सुरक्षित रहे और सब पापों का मूल काम है और विवाह, काम के पाप से बचाने वाला है। मनुष्य कामवासनाओं को तो उचित अनुचित उपायों से वेश्या द्वारा भी तृप्त और शान्त कर सकता है किन्तु पाप से रक्षा नहीं कर सकता जैसे विवाहित स्त्री का पालन पोषण आदि का भार अपने ऊपर लेता है ऐसे दूसरी स्त्री का भी ले सकता है। तब भी केवल भार लेने से पाप से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि वहां भय, लज्जा, अपयश होगा। यदि वह पूर्व कर्मानुसार ही ऐसा मेल हो तब भी प्रकट रूप से विद्वानों, जाति के समक्ष या उनकी अनुमति से नहीं होगा। इसलिए पाणिग्रहण के प्रथम मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया······

'गृभ्णामिते सौभागत्वाय हस्तं मया पत्या
जरदष्टिर्यथासः ।'

कि यह सौभाग्य तेरा और मेरा, न केवल मैं और तू अपनी इच्छा से बना रहे हैं बल्कि परमात्मा, जो हमारा उत्पन्न करने वाला, कर्मों को जानने वाला, कर्मफलदाता है. वह और तेरे और मेरे सब सम्बन्धी बुजुर्ग और विद्वान् जो हमारे पाप और पुण्य को बताने वाले हैं एक मत होकर हमको एक दूसरे के हाथ बेंच रहे हैं। स्त्री पुरुष के रूप में, न केवल सन्तोष कर रहे हैं, बल्कि मुग्ध मन से हो रहे हैं। उनके मन में फिर अन्य रूप न समायेगा।

मैं अपनी विचारमग्नता में अपनी सन्तान से कह रहा था—कि प्यारे पुत्रो! तुम अपने को भाग्यवान समझो। प्रभुदेव ने तुम पर बड़ा भारी उपकार किया है कि तुमको एक भारी पाप से बचा दिया है, नहीं तो जब मुझ जैसे अयोग्य और असमर्थ के घर में उत्पन्न किये गये थे, किसने तुम्हारी ओर ऐसी विशाल दृष्टि करनी थी। मुझे भी बचा लिया है। और मैं कहता हूँ—प्रभो! 'त्वं हि नः पिता वसो! तुम ही मेरे रक्षक हो (मेरी असमर्थता, अयोग्यता पर पर्दा डालने वाले,

मुझे अपने में बसेरा और आश्रय देने वाले पिता हो। धन्य हो! कैसी दया की दृष्टि की कि मैं अपनी संतान के कुकर्म के भय से सुरक्षित हो गया। इसलिए पुत्र! जिस प्रभु ने तुमको अपयश के जीवन से बचाया, अधर्म से बचाया और धर्म पुण्य कमाने का आश्रम दिखाया, उसे कभी न भूलना। उसके इस महान उपकार को सदा धन्यवाद देते रहो। जिस माता-पिता के घर में कन्या की आयु १२ वर्ष से ऊपर चढ़ने लगती है उसको कितनी चिन्ता दिन-रात लगी रहती है। वर को ढूंढ़ने में चिंतित रहते हैं। किस प्रकार कन्या की देख-रेख में उसके साथ बंधा रहना पड़ता है। मां न उसे घर में अकेली छोड़कर कहीं जा सकती है, न सदा साथ बाहर ले जा सकती है। मानों उसके पैर में जंजीर (रस्सी) बंध गई होती है। और जब ही कन्या का विवाह हो गया और अब वही कन्या घर में अकेली रह सकती है। उसे सब जगह अपने साथ भी ले जा सकती है। अब विचार करो, इसमें गुप्त बन्धन और छुटकारे का क्या रहस्य भरा हुआ था? इसलिए यह प्रसन्नता बहुत बड़ी है। सबको करनी आवश्यक हो जाती है। विवाह, भोग और अपवर्ग दोनों के लिए है। विवाह का अर्थ है

वि=विशेष, वाह=चाल। वह चाल (गति) जो विशेष हो, सामान्य न हो। इस प्रकार जीवन व्यतीत करना अपवर्ग का साधन बन जाता है। दूसरा अर्थ है वि. विस्तृत वाह=चलन। वह बर्ताव जो विस्तृत हो। गृहस्थी ही सब वस्तुओं का विस्तार, वंश का विस्तार मर्यादा विस्तार कर सकता है। अन्य नहीं। यह है भोग का मार्ग विवाह, एक और अर्थ भी विवाह का है वि=रहित, वाह=चाल। जो संसारी चाल से रहित हो जैसे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का विवाह था। वह केवल मुक्ति के लिए था। आत्म साक्षात् के लिए था। संसारी चाल से रहित था। वाह का सामान्य अर्थ है बहना बहने वाली चीज दो किनारों के मध्य में बहती है। विवाहित मनुष्य के जीवन के दो किनारे हैं—भोग और अपवर्ग। वि. लगाने से एक अर्थ तो हुआ विशेष अर्थात गृहस्थ मार्ग में किसी विशेष तरीके से बहा जावे। जिससे भोग और अपवर्ग दोनों प्राप्त हो जावें। दूसरा अर्थ वि का है रहित अर्थात बहाव रहित जीवन। मनुष्य में बहने वाली वस्तु है वृत्तियां जो मन रूपी समुद्र में या नदी में सदा बहती रहती है। इन वृत्तियों को बहाव से रहित कर देना अर्थात् निस्तब्ध,

शान्त कर देना। राजा जनक, राजा मयूरध्वज, राजा अश्वपति आदि कई विशेष व्यक्ति हुए जिन्होंने विवाह भी किया, राज भी भोगा और मुक्त भी हुए, दूसरी बहाव रहित करने वाले के भी कई उदाहरण हैं। याज्ञवल्क्य, ऋषि वशिष्ठ आदि जिन्होंने विवाह किया परन्तु दोनों स्त्री पुरुष विवाह वृत्ति से शान्त रहे। धर्म कार्य में एक दूसरे के उद्देश्य की सहायता ही की।

विवाह का एक अर्थ वि=विरोध, उल्टा और वाह=चाल या बहना। अर्थात् प्रत्यक्ष में जो अर्थ विवाह का है वह है संसारी भोग्य। इसके लिए विरुद्ध जीवन बहाव या चाल बनाओ अर्थात् मोक्ष की ओर चलो।

—※—

१३.५.४६ सोमवार — प्रातः ७.३० बजे
३१ वैशाख २००३ वि. — त्रयोदशी (शु०)

'मन-वृत्तियां और साधक का कर्त्तव्य'

गुरु नानक देव ने सच कहा है, 'मन्ने की गत्त कही ना जावे, और मनीराम का क्या कहना, कुछ समझ नहीं आती। मौन तो होता ही नहीं। ऐसा चतुर

सर्व कला-निपुण है कि पूजा करो, पाठ में बैठो, यज्ञ करो या स्वाध्याय, जो काम करना चाहो प्रथम तो बड़ी सावधानी से बिलकुल आत्मा के साथ एक होकर जुड़ जाता है किन्तु पीछे पता ही नहीं लगता कि किस क्षण या समय में आत्मा को भगाकर अपने ही विषय में लगा देता है और हाथ वाणी बराबर अपना-अपना काम पूजा या जप, यज्ञ कर रहे हैं और आत्मा मन में रमण कर रहा है। जब आत्मा को किंचित् ध्यान आया और मन को डांटा कि अरे क्या करता है तो बेबस की भांति बिलकुल शांत, चुप साध सादगी से पुनः साथ हो जाता है आत्मा को विश्वास हुआ ही नहीं कि फिर उसे उसके रोचक विषय में ले गया। ऐसा दृश्य सम्मुख किया जहाँ उसकी बड़ाई हो रही है और यश मान के पुल बांधे जा रहे हैं। अब आत्मा प्रसन्नता से मन की इस चाल में रमण कर रहा है। तब तक पूजा पाठ की भी शान्ति पाठ का समय आ गया। पता ही न लगा। दिन रात जागृत समय में यही दशा प्रतिदिन रहती है। यहां तक कि साधक का अपना समय काल साधना या व्रत का समाप्त ही हो जाता है वह आत्मिक उन्नति में जहाँ का तहां ही रह जाता है।

व्रत मौन था तो मनन करने के लिए। मनन किस बात का? पढ़ी सुनी उत्तम बातों का, विषयों का जिससे कि उनका साक्षात् हो सके। उन विषयों को भी तो मन के द्वारा ही मनन करना है। जब वह उन में रुचि ले और एकाग्र हो जाए। चूंकि मन वश में आता नहीं इसलिए किसी भी विषय का मनन नहीं हो पाता तो इसका साधन है प्रथम मनका ही मनन किया जाए। प्रभु का ध्यान भी तो इसी देवता के साथ देने से हो सकता है और अपना आत्म चिंतन भी।

इसलिए सबसे आवश्यक है कि प्रथम मन ही की देख रेख का व्रत किया जाय। एक साधक के साधना काल में अनेक प्रकार के विचारों का आना आवश्यक है। साधना सत्कार करना या बनाना किसी चीज का दो प्रकार है—एक तो कोरी या पूरी वस्तु को सुन्दर बनाना। कपड़े का थान है या वृक्ष का एक मोटा तना है। उनको काट-छाँट या तराश घड़ कर स्वामी की इच्छानुकूल बनाना। दूसरा बनाना या साधना है बिगड़ी, अस्त व्यस्तता में पड़ी वस्तु का। शरीर का संवार सुधार तो कोरी वस्तु के समान है, किन्तु मन का सुधार है बिगड़ी वस्तु के समान। डा०

हकीम लोग कभी किसी रोगी की आवाज सुनकर चिकित्सा करना, स्वीकार करते हैं और कभी रोगी आने से पहले ही सावधानी कर लेते हैं।

किन्तु किसी किसी रोग की चिकित्सा तो बिना रोग देखे नहीं कर सकते। रोग को देखकर उसके कारण को जान ठीक चिकित्सा कर पाते हैं। ऐसे ही मन का सुधार तो मन के बिगड़े समय ही करना होगा। जब जिस समय उसमें बिगाड़ ही नहीं, कोई विचार हो नहीं तो मन के किस कोने का सुधार करेगा? इस समय में प्रभु ध्यान ही आत्मिक उन्नति के लिए होगा। इसलिए साधना काल में मन की कुवृत्तियों को सामने लाना आवश्यक है। साधक को घबराने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है उस समय अपना सब कार्य छोड़कर जो विचार मन ने वर्तमान काम करते समय के विपरीत उत्पन्न किया है, उसी का कारण ढूंढ़ने में लग जाना या उपचार करना। मन की गति एक तो है नहीं जो लिखने में आये। उसकी गतियां अनेक हैं परन्तु वे हैं दो प्रकार की'' एक बीते हुये का स्मरण करके, दूसरा वर्तमान सामने देखकर सुन करके।

मन का बिगड़ना उदाहरण के लिए एक साधक यज्ञ कर रहा है, बहुत प्रीति श्रद्धा से परन्तु अग्नि बार-बार बुझ जाती है। पंखा करता है अग्नि नहीं जलती हाथ थक जाता है धूआं से दम घुटता आंखों से पानी बहता है बार बार उठकर नासिका भी साफ करनी पड़ती है। उधर दिन की गर्मी बढ़ती है और काम भी बहुत करने पड़ते हैं समय बीतता जा रहा है इससे मन कभी कभी खिज (चिढ़) जाता है अज्ञान से कभी रो देता है, कभी क्रोध करने लग जाता है अग्नि और समाधि के साथ। कोई साधक जप कर रहा है और चिऊंटियां बार बार इस पर चढ़ती जाती हैं। धैर्य से उनको हटाता है। कई बार स्थान बदलता है किन्तु चिऊंटियां पीछा नहीं छोड़ती तब मन खिज जाता है और क्रोध से कभी मन में गालियाँ भी चिऊंटियों को निकालने लग जाता है। यदि बहुत सभ्य है तो भीतर ही कुढता रहता है और कभी उनको हटाते समय क्रोध से हाथ फेर कर उतारता है जिससे कई मर भी जाती हैं। यह बहुत स्थूल अवस्था है, अज्ञान की जिसे सब कोई जान और समझ सकता है। यदि ऐसा मनुष्य किसी और के सम्मुख क्रोध करता तो वह दूसरा कह देता, 'अरे मूर्ख! निर्जीव पशु या जन्तु का

इसमें क्या अपराध ? वह जान बूझकर तुम्हारे साथ शत्रुता थोड़े ही कर रही हैं।

संवत् १९६४ में वर्षा हुई। दिन में कई कई बार मूसलाधार आती। एक कानूगो थे पैनशनर। उनके घर का मकान भी गली के धरातल से नीचा था और पशुओं के बांधनें का भी नीचा था। दोनों में दूरी भी बहुत थी। मैंने उनको देखा कि कस्सी हाथ में लिये बेचारे घर का पानी निकाल कर फिर पशु स्थान जाकर पानी निकालते। वहां से फिर घर तक आते तो फिर वर्षा आ जाती। तीन चार बार में ऐसे दुःखी हुए कि परमेश्वर को बहुत गन्दी गालियां देने लग गये कि (—गाली) निर्लज्ज ! तूझे किसने भगवान बनाया है। शर्म नहीं आती। बार बार मूत्र करनें लग जाता है। —दूसरा प्रकार है बीते हुए का। इनमें भी एक रूप तो काल्पनिक है किन्तु आशावादी या संभावित बनकर मन उपस्थित करता है और बिगड़ता है।

दूसरा रूप है भूतकाल का। ये चारों काम, लोभ, अहंकार के विषय के चित्र बनाता है। एक उदाहरण मोह का सुनों एक पार्थी जप कर रहा था। मन घर पहुंच गया। क्या देखता है पुलिस के सिपाही

ने उसके पुत्र को पकड़ लिया है किसी वस्तु के न देने पर जो विद्यमान न थी और थाने पर ले गये हैं। सिपाही ने मिथ्या अभियोग बनाया है कई लोग साथ गये। थानेदार उसे मारने लग जाता है। इससे मन में क्रोध आ गया और जप काल ही में उसकी माला क्रोध से नीचे गिर पड़ती है और अब थानेदार को उल्टी सीधी कहने लग जाता है। लोगों को भी न्यूनाधिक कहता है कि तुम लोग चापलूस हो कि निरपराधी को इस प्रकार कष्ट में देखकर तुम्हें लज्जा नहीं आती ? इत्यादि। यह है सूक्ष्म अज्ञान, मिथ्या न सिर है न पैर। घटना तो संभव हो सकती है परन्तु इस समय कहां घर और कहां पुत्र कहां साधक और साधक की कैसी साधना।

इसी प्रकार किसी स्त्री का रूप मन में लाकर साधक की वृत्ति काम वासनायें जगाना चाहती है जो न हुई और न होती है। (संभावना तो उसकी है क्योंकि ऐसा होता देखा जाता है)। मन ने आत्मा को इसी रमण में लगा दिया आत्मा को कुछ ध्यान आया मन से डांट-डपट की मन दीखने में दीन (मस्कीन) हो गया अब जप में खूब साथ दे रहा है, किन्तु पता ही नहीं लगा कि मन देवता अपनी वृत्ति से रावलपिण्डी पहुँच गये। दो व्यक्ति घूमते हुये एक स्थान से जा रहे

थे तो उनको हवन की सुगन्ध आई। कहने लगे यहाँ कौन हवन करने वाला आ गया? उसके भीतर चले गये। घर वालों ने स्वागत किया। आगन्तुकों ने पूछा आप कहाँ के हैं? हवन करने वाले ने कहा डेरा-गाजी-खाँ का।' उन्होंने पूछा, 'यह हवन कहाँ से सीखा उसने उत्तर दिया' 'प्रभु आश्रित से।' वे कहने लगे, 'वाह भाई वाह। वाह भई वाह, तब तो आप और हम भाई ठहरे।' अब दोनों नये और पुराने यश के पुल बांधने लगे। आत्मा को अपना यश, मान पसन्द है। अब डांट नहीं करता। कामवासना को तो बुराई और पाप समझता था। तुरन्त संभलकर (मन को) डांट की। किन्तु यह अहंकार मानवृत्ति पसन्द है और स्वयं चुप है। यह है मन की गति। अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की। वह इसलिए सामने लाता है कि प्रभु का नियम ही ऐसा है कि समय आ जाता है जबकि साधक को यह अनुभव होने लग जाता है कि मेरी अपनी ही रुचि प्रभु दर्शन से बहुत दूर रखे हुये है रुचि तो एक ओर ही करनी पड़ेगी। दो ओर (रखने) से काम नहीं बनेगा।

२. कई साधक तो ऐसे हैं, कि उनको बुरी वृत्तियाँ ही

उठती हैं, और उनमें रमण करने लग जाते हैं और शिकायत भी करते रहते हैं। बुरी वृत्तियों में मन की रुचि न हो तो भी वह कभी-२ अपना रूप दिखाती हैं, मन आत्मा को गिराने के लिए तब ऐसा रूप नहीं दिखाता बल्कि सदा सावधान रखने के लिए ही करता है कि सर्वथा ही निरपेक्ष वृत्ति (बेपरवाह) न हो जावे। या अहंकार न आवे कि मैंने विजय पा लिया। परन्तु अच्छी वृत्तियां अपने नाम और काम को उपस्थित कर के फुलाती और कुप्पा बनाती हैं और परमेश्वर से दूर ले जाती हैं। इससे बल, उत्साह तो बढ़ता है परन्तु आत्मज्योति नहीं जागती। जहां तक मन और बुद्धि का सम्बन्ध है, उनमें तो विकास होता है परन्तु आत्म प्रकाश नहीं मिलता। मन में एकाग्रता (शान्ति) भी नहीं होती। इसी प्रकार एक-२ विषय के अनेक रूप जो भी संभव हो सकते हैं, बारी-२ से मन साधक के सम्मुख करता है। यदि साधक को सच्चे रूप से अपने आत्म साक्षात् की धुन है तो यह सब क्रीड़ा उसकी सहायता कर रहे होते हैं। प्रभु उसे कभी गिरने नहीं देते बल्कि उसकी उन्नति का साधन बनते हैं। उसके भी दो प्रकार हैं–एक तो उन (मन के) झगड़ों से दुःखी

कर अपने को असमर्थ जानकर बार-२ व्याकुल होकर भु से सहायता के लिए पुकार करनी और रोकर ार्थना करनी। ऋग्वेद १. २५. १६

'ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके"।

हे पाप ताप से बचाने वाले वरुणदेव प्रभो ! मेरी स पुकार को अभी-२ सुनो। मेरी रक्षा करो। लाज ओ मैं सच्चे हृदय से पुकार रहा हूँ। बहुत व्याकुल हो का हूँ। कोई सहारा नहीं रहा। इति।

जब प्रभु साधक को बार-२ दुखित देखते हैं कि ाधक हृदय से, पाप ताप से बचने का इच्छुक है, तो स समय कोई घटना सामने लाकर या अन्तप्रेरणा ान से उसे शान्त कर देते हैं। जैसे मोह वाला पहला दाहरण सामने आया। पुलिस थाना पर पुत्र और ोग विद्यमान हैं, और आप भी। थानेदार ने जब पीटने ो आज्ञा दी तो बड़ी गम्भीरता से पुत्र को (पिता ल्पना में) समझाता है। पुत्र ! कोई चिन्ता न करना। बराओ नहीं। प्रभु के सामने अब तो तुम निष्पाप हो रन्तु कोई पूर्व जन्म का पाप ऐसा है जो तुम्हें कष्ट

दिये बिना नहीं उतर सकता। धन्यवाद करो कि प्रभु और लोगों की दृष्टि में तो निष्पाप हो। कोई अपयश नहीं कर सकता। प्रभु ने तुम्हारे पूर्वपाप के फल भुगताने के लिए पुलिस को निमित बनाया है। उसका भी कोई दोष नहीं। जो होनी है वह होके ही रहेगी। इस लिए चिन्ता न करना। इन शब्दों को सुनकर थानेदार साहब का ध्यान धीमा हो गया और लोगों से पूछने लगे, 'ये कौन हैं ?' लोगों ने कहा, 'यह इस लड़के का पिता है और प्रभु भजन में रहता है। फकीर आदमी है। लड़का भी कभी ऐसा करने वाला नहीं। पता नहीं सिपाही से कैसे भूल हुई ?' इससे थानेदार ने लड़के को ससम्मान विदा कर दिया।

यह है, क्रोध को, जो मोह से मिथ्या रूप धार कर उत्पन्न किया और अब प्रभु कृपा से शान्त रहा। इस अवस्था के पश्चात् फिर मोह का ऐसा रुप नहीं बनता। और जब कभी आता है तो चेतावनी सावधान करने के लिए क्षणिक और शांत रूप रहता है। दूसरा प्रकार है जब भी मन ने कोई रूप उपस्थित किया उसी दम उसी का विरोध हठ से आरम्भ कर देना। ज्ञान

से उनके बुरे परिणामों की घटनाओं से भयभीत करते रहना। या जब बहुत कठिन साधना हो तो अनसुनी कर देना, निरपेक्ष ही रहना। मैं कई दिनों से अनुभव करने लगा हूं और मन से कह देता हूँ कि यार तू बड़ा उस्ताद है! अभीष्ट कार्य से तो बड़ाई में ले जाकर वंचित करने लग गया है किन्तु अभी तुरन्त उसे बन्द करने की सामर्थ्य नहीं आई कई दो चार सेकन्ड शायद लग जाते होंगे अपनी बड़ाई सुनने में फिर ध्यान आता है कि यही तो बड़ी बिमारी है। प्रभो? कब यह रोग (मर्ज) मरेगा?

बिना तेरी दया के न सकता संभल।
प्रभो किस किस को तूने उभारा नहीं?
पतित पावन प्रभो आसरा दो मुझे,
बिना तेरे और कोई सहारा नहीं

'निराश न हों।'

ये कुवृत्तियां और सुवृत्तियां साधक को साधना काल में बहुत रूपों में आती रहेंगी। जब तक प्रत्येक प्रकार की वृत्ति में साधक की आत्मा निरपेक्ष बनने तक की सीमा तक नहीं पहुंचती। चाहे कितने जन्म लग जावें।

प्रभु की ऐसी कृपा है, या उसकी कृपा का ऐसा नि
है कि जब किसी पतित मनुष्य को भी एक बार कि
बुराई के त्याग करने का विचार उपजता है किन्तु
त्याग नहीं कर सकता, समझ लो कि वह एक दिन
बुराई को ऐसे फेंकेगा जैसे सब्जी में पड़ी मक्खी
अंगुली से निकाल बाहर फेंक दिया जाता है। वह त्य
का विचार जो एक बार उत्पन्न हुआ समझो वह प्र
प्रेरणा का अंश था और वह गुप्त अज्ञात रूप से अ
करण में रहकर बढ़ती और परिवर्तन करती रहती
एक दिन वह क्रांति लाकर सफल हो जाती है। प्रभु
शक्तियां सदैव काल मनुष्य के सुधार में लगी रहती

'मौन=मन का मनन'

जो साधक प्रत्येक समय मन की गति को जा
और उस पर दृष्टि रखने का यत्न करता है और
जान लेता है कि मन अब कैसे गति करेगा तब मन
गति उस आत्मा के सामने बन्द हो जाती है। मन
ज्ञानों और भूत भविष्यत् वर्तमान का जानने वा
भंडार है। इसलिए फिर वह कोई गति बिना आत्मा
आज्ञा के अपने आप न करेगा। इसलिए इस मन
गतियों का मनन करने का नाम ही असली मौन प्र
होता है।

—:—

१४. ५. ४६ मंगलवार प्रातः
१ ज्येष्ठ २००३ वि० चतुर्दशी शु०

'साधक का मान—उस के लिए गिरावट'

कल सांय मैं विचार करने लगा और ऐसे शब्द अपने आप निकलने लगे कि मुझे हंसी आई और हंसी रुकने में न आती।

एक कच्चघरड़ या मुप्तदी (वा नवसिखिया नया प्रारम्भ करने वाले) साधक के लिए प्रशसंनीय शब्द, चाहे वह मर्यादा से भी लिखे जावें या बोले जावें तो बार-२ के सुनने देखने से वह कच्चा साधक भी आकर्षित या प्रभावित (मानूस) हो जाता है और फिर वह उन्हीं शब्दों का इच्छुक रहता है यदि कोई अनजाने या जानकर भूलकर प्रयोग न करे तो उसे मन में बुरा लगता है। उदाहरण के लिए—मेरे शहर में (जतोई में) एक व्यक्ति थारयालाल नामी था अनपढ़, साधारणसा व्यक्ति था। किसी बड़े व्यक्ति से उसका आना जाना बन गया। बड़ा व्यक्ति सज्जन कुलीन था। हमारी तहसील में किसी समय दीवान थारियालाल साहब मुंसिफ (अर्थात् न्यायधीश) रह चुके हैं तो उस सज्जन बड़े व्यक्ति ने अपने

साधारण व्यक्तित्व के मित्र को आदर से बुलाया। दिवान जी! पहले तो वह थारियालाल शर्माया किन्तु बार-२ के योग से यह मानूस (गर्वित) हो गया। बड़े सज्जन के सम्बन्ध वाले भी उसे दीवान जी, दीवान साहब के पद से पुकारने लगे। अब सब जगह दीवान शब्द से पुकारा जाने लगा। उसे इस शब्द से बहुत प्रसन्नता होती चाहे अब यह शब्द सामान्य रूप से बन गया था तब भी उसे हर्ष हुआ। किंतु जब कभी कोई उसे चौधरी थारियालाल के नाम से बुलाता तो उसे मन में बहुत दुःख अनुभव होता। ऐसे अन्य कई उदाहरण मेरे सामने हैं वही दशा मैं अपनी पाकर इस मन देवता के मनन करने पर कल सांय. अनुभव करने लगा कि व्रत समाप्त होने पर प्रभु मुझे लगाम और पिछाड़ी से मुक्त कीजिए। जैसे कोई सवार अपने घोड़े से बहुत प्यार करने वाला उसके मुख में लगाम तेज बहुत कांटेदार रस्सी चमकीली पकड़कर बड़ा प्रसन्न होता है। घोड़े को सुन्दर तिल्हार (मोहरा) लगाकर अपने मन में प्रसन्न होता रहता है। और बेचारा शीलवान घोड़ा जो दुलत्ती भी नहीं मारता तो भी घोड़े की शान के लिए पिछाड़ी लगा देता है। घो

की लगाम रस्सी, पिछाड़ी की सुन्दरता से कोई भी लाभ नहीं। केवल यही कि वह अधिक बंध जाता है। इसी प्रकार ठीक इसी प्रकार मेरे श्रद्धालु प्रेमी मित्रों ने मेरे नाम के साथ सुन्दर शब्दों की लगाम सेऔर पिछाड़ी से मुझे खूब बांध दिया है। यह अहंकार उपजाने वाले 'महात्मा' और 'पूज्य' शब्दों को लगाम और मोहरा और महाराज शब्द की पिछाड़ी से मेरी मुक्ति हो जाए। मैं अपनी पूज्या नानी जी को केवल अम्मा, नानी के शब्द कहने में जो शर्म आती थी। वह शब्द 'अम्मा' के सुनते ही प्रेम में बंध जाती थी। मुझे भी जब गण-पति 'अब्बा' शब्द से बात करता था, बहुत आनन्द आता था परन्तु जब कोई लड़का पिताजी कह देता तो मेरे भीतर कोई चेष्टा या बिजली प्रेम की न दौड़ती थी। प्रेमी जनों का आदर सत्कार नम्रता से सुन्दर शब्दों से पुकारना प्रेम तो बहुत उत्पन्न करता है किन्तु अहंकार जन्य अवश्य होता है। उनकी सच्ची श्रद्धा मन में होने से सच्चा प्रेम भी मन में उपजता है किन्तु शब्दों की सुन्दरता वास्तव में अन्तर (या दूरी) बना देती है जो अधिक समीप अनुभव होता है। इसका कारण अहं-

कार का आवरण है। जो दूर को समीप दिखाता है
जैसे हम अज्ञानियों की शरीर और आत्मा एक ब
चुकी है। ये उपाधियां नाम के लिए हैं।

अब कैसे कोई टेकचन्द बुलावे? मां-बाप जैस
रक्त सम्बन्ध तो नहीं कि वे तो जब 'टेका' शब्द
बुलाती थीं उस समय हृदयसागर उनकी आशीर्वाद औ
प्रेम से भर जाता था। इसलिए यह नाम ही समाप
हो जाय। नाम रखने वाले, इस नाम से प्यार कर
वाले तो मां, नानी, बाप, चाचे सब पूर्वज (बुजुर्ग) इ
संसार से कूच कर गए। एक बहन है वृद्धा जिसने कभ
टेका या टेकचन्द नहीं कहा। सदा 'काका' शब्द
बुलाती है और मैं भी 'काकी' शब्द से बोलता हूँ
कभी 'जी' साथ न लगाया। सो अब, जो नाम प्रभु-प्रेरण
से सन् १९२८ से 'प्रभु-आश्रित' प्राप्त हुआ है, वह
नाम रहने से कोई भी उपाधि साथ लगाने की आव
श्यकता नहीं रहती। यदि कोई यह समझे कि यह घोड़
बिना रस्से के हाथ न आवेगा उसके गले में छोटा मोट
रस्सा अवश्य डाल देना चाहिए। हमारी तरफ के लो
छोटे मोटे टट्टू जो बहुत शीलवान् होते हैं, उनके गले
में जो रस्सा डालते हैं, वह छोटा सा होता है। ज

चढ़ना होता है तब इस रस्सा (खब्बड़) को उसके मुख में लपेट कर जकड़ देते हैं। लगाम का काम ले लेते हैं। जब उसे बांधना होता है उसे रस्से को पैर में दावण बनाकर बाँध लेते हैं और जब उसे दौड़ना होता है, तेज चलाना होता है तो उसी रस्से को निकाल कर चाबुक (कोड़ा) बना लेते हैं। यदि कभी मार्ग में तंग (पेट के नीचे की पेटी) टूट जाए तो उसी रस्से का तंग बनाकर जीन कसे रखते हैं। कभी रकाब टूट जाए तो इसी रस्से (खब्बड़) से दुवाल रकाब का काम ले लेते हैं। अभिप्राय यह कि वह रस्सा (खब्बड़) सब काम देता है। इस घोड़े के सम्बन्ध में सब कामों में पूर्ण होता है। ऐसे ही रस्सा यदि कोई अवश्य डालना चाहे तो 'श्री' का शब्द खब्बड़ के समान सब काम देता है; श्री प्रभु आश्रित, न गुरुजी, न महाराज, न पूज्य, न महात्मा परन्तु 'श्री' का शब्द भी उसी समय सुहावना लगेगा जब मैं आश्रम बदलने के योग्य समझा जाऊं, तब प्रभु के दिए नाम को आदर इतना बहुत-२ पर्याप्त है। इस-लिए कल सायं को विचार था कि व्रत समाप्ति पर ऐसी सबसे प्रार्थना करूंगा कि मुझे लगाम, रस्सी पेटी और

पिछाड़ी अब नहीं चाहिए। इसमें मेरा लाभ नहीं। बन्धन का कारण बना है। किन्तु आज यह विचार आया कि अंकित करदो। परमात्मदेव पढ़ने और सुनने वालों से अभी से तुम पर ? ऐसा कराना प्रारम्भ कर देंगे। प्रभु देव इस व्रत में मेरी सब छोट-बड़ी कमियों को जो अन्जाने, अज्ञान से, मेरा बन्धन बनती रही हैं, अनुभव करा-करा, चुन-चुन, निकाल देवें जिससे मैं उज्जवल मुख से सम्मुख हो सकूं।

(नोट)—

बोलचाल में ये शब्द बहुत आसानी से और बिना संकोच के प्रयोग में आ सकते हैं जैसे :—चलो जी प्रभु आश्रित को मिल आवें; या प्रभुआश्रित को बुला लेवें, प्रभु आश्रित ने ऐसा वैसा किया, प्रभुआश्रित कहां हैं ? प्रभुआश्रित का क्या हाल है ? बड़ा सुन्दर सा लगता है। इस बोल में कोई निरादर या कमी नहीं पाई जाती।

—:०:—

१५-५-४६ बुधवार प्रातः ७-३० बजे

२ जेठ २००३ वि० पूर्णमासी

'यश-सात्विक और राजसिक।'

काम के परिणाम पर जो नाम दिया जाता है वह सही होता है। और जो काम के आरम्भ करने पर या आरम्भ से भी पहले आशा पर दिया जाता है वह पतन का कारण बन जाता है। लोगों का जानबूझ कर तो दोष नहीं होता, उनके शुभ विश्वास से ऐसा होता है। मां बच्चे को प्रारम्भ में जब थोड़ी सी मिर्च वाली सब्जी देती है तो बच्चा चिल्ला उठता है। उसे मिर्च तीक्ष्ण और कड़वी लगती है और नहीं भाती। किन्तु मां धीरे-२ उसे उसका अभ्यस्त बना देती है। फिर जब सब्जी में मिर्च न हो तो बच्चे को स्वाद नहीं आता और सब्जी को देखता रहता है कि मिर्च है या नहीं। ऐसे ही प्रारम्भिक (मुप्तदी) साधक, या अनधिकारी पुरुष की जब कोई बड़ाई करता है तो उसे भय लगता है। फिर जब अभ्यस्त बन जाय, तो कान लगाकर सुनता है कि मेरी बड़ाई होती है या नहीं। दूसरा लोगों को लगाम

लगाना एक तो कइयों का देखा-देखी होता है और कई स्वयं अपनी इच्छा प्रेम से और बढ़ाते और लगाम को दृढ़ बनाते हैं। उनका यह भाव ठीक नहीं होता कि घोड़ा लगाम से मार्ग पर ठीक चलता रहेगा। कुमार्ग न पकड़ेगा। बल्कि यह भाव होता है कि हम जैसे चाहें वैसे घोड़े को दौड़ायें। द्रुतगति चाहें तो वैसा चले, सरपट(दौड़ना) चाहें तो सरपट चले। मार्ग पर चलायें तो मार्ग पर, यदि न चाहे तो मध्यम गति चले। ये लोग बहुत दुम पूंछ लगाकर अपने पीछे चलाना चाहते हैं। और मान यश के भूखों को फिर लगाम लगा देने वाले की माननी पड़ती है, नहीं तो यशमान तो आत्मा का भोजन है—यह भूख नहीं है। जहां भूख होगी वहां अवश्य अहंकार आवेगा। जहां भूख नहीं होगी, भोजन (खुराक) के रुप में प्राप्त होगा। वह यश स्थायी ठीक, नम्र करने वाला होगा। उसे चाहे कोई इस नाम से पुकारे, लिखे या न, उसे परवाह नहीं होती। इसकी आत्मा तृप्त हो जाती है।

यश दो प्रकार उत्पन्न होता है—एक कर्म से, जो लोगों के सम्बन्धसे होता है और लोग ही यश करते हैं। दूसरा, गुण से जो प्रभु की ओर से दिया हुआ होता है—

दया, न्याय, सत्य ये गुण भाव प्रभु के निजि हैं। जब मनुष्य में आते हैं तो वे इस ज्ञान से आते हैं। जो भक्ति द्वारा ईश्वर प्राणिधान द्वारा उत्पन्न होते हैं। ये यश प्रभु स्वयं कराते हैं। इसका सम्बन्ध नित्य आत्मा से है। और कर्म शरीर करता है। मन इस ज्ञान के द्वारा कराता है। जो बौद्धिक, प्राकृतिक होता है, अनित्य होता है। जो रज सत् मिश्रित होता है। कर्म कभी रजोवृत्ति के बिना नहीं हो सकता और भक्ति में रजोवृत्ति बाधक है। वह केवल निरी सात्विकवृत्ति से होती है। आध्यात्मिक मार्ग सत् का मार्ग है—शेष सब मार्ग रज के मार्ग हैं।

—०—

१६-५-४६ वृहस्पतिवार दो बजे दोपहर
३ जेष्ठ ३००२ वि० पूर्णमासी

'त्रुटि से छुटकारा प्रभुदया से'

प्रत्येक मनुष्य को अपनी निर्बलता त्रुटि का भान उस समय होता है जब उसकी वृत्ति सात्विक होती है। किन्तु उसको तब त्याग कर सकता है जब प्रभु की दया

हो, नहीं तो फिर रजोवृत्ति उसे दब देती है और कभी तमोवृत्ति अपना प्रभाव जमा कर बिल्कुल भुलवा देती है। निर्बलता का अनुभव करना भी एक बात है, परन्तु निर्बलता से जो हानि हुई या होती, या होनें वाली का दुःख लगना, या भय लगना, उससे भी ऊंची बात है। दुःख अनुभव किये बिना हानिकारक वस्तु त्यागी नहीं जाती, चाहे वह त्रुटि या निर्बलता दोष प्रतीत भी होता रहे।

—०—

३ बजे दिन,

'सात्विक राजसिक अहंकार'

कोई-कोई लेखक और वक्ता ऐसे होते है कि थोड़े शब्दों में बहुत भर देते हैं और कई ऐसे हैं कि बहुत लिखते है परन्तु सार बहुत थोड़ा निकलता है। कई लोग थोड़े समय में बहुत काम कर लेते हैं और कई बहुत समय में थोड़ा काम कर पाते हैं। इन दोनों की वृत्तियों में नम्रता और अहंकार है किंतु भेद से पहले में नम्रता है परन्तु अहंकार रूप में। या ज्ञान है किंतु अहंकार रूप में। दूसरे में अहंकार है नम्रता के रूप में। अर्थात् पहले

की सात्विक वृत्ति या सात्विक कार्य भी रजोगुणी रूप में प्रकट होते हैं। दूसरे की राजसिक वृत्ति या राजसिक काम भी सतोगुण का रूप धारते हैं। क्या लीला प्रभु की है। जैसे एक व्यक्ति का साधारण सा बोल भी लड़ाई की तरह प्रतीत होता है मानो कोई लड़ रहा है और दूसरे के गर्म शब्द भी साधारण से दृष्टि आते हैं।

—:—

१७-५-४६ शुक्रवार ८ बजे प्रातः
४ ज्येष्ठ २००३ वि. एकम् (कृष्णपक्ष)

'धर्म का धारण केवल प्रभु विश्वास हो।'

प्रभु की अद्भुत लीला है। एक तीन हाथ के मनुष्य ने जिस का भार भी अन्य प्राणियों से बहुत नहीं, संसार का कितना बड़ा भारी बोझा और दायित्व उठाया हुआ है। अपने श्वांस के पल का भी विश्वास नहीं तब अगली पीढ़ियों के लिए काम कर जाने का दायित्व ऐसे लेता है मानो किसी एक तिनके मात्र को उठाना हो। नहरों को खोद लेना, नदियों को बांध देना, पहाड़ों को

उड़ा देना, महलमाड़ी बगीचे बना देना, अभिप्राय यह कि अपने और पराये सब दायित्व अनेक अहंकार के बल शक्ति पर मनुष्य उठाता है। परन्तु प्रभु और धर्म को अहंकार के बल पर नहीं उठा सकता। सम्पूर्ण संसार से धर्म का बोझा बहुत भारी है। धर्म को तो प्रभु विश्वास पर उठा सकता है और प्रभु को अपना अर्पण कर देने पर उठा सकता है।

——

२. गुण और द्रव्य द्वारा सम्बन्ध

मनुष्य के सब प्राकृतिक वस्तुओं से सम्बन्ध किसी न किसी द्रव्य के नाते से बने जो शरीर से कमाया गया व शरीर से बाहर है। मेरी गाय, मेरी दुकान, मेरा मकान इन सब से मेरापन अपने द्रव्य के व्यय करने से बना है। किन्तु जितने चेतन हैं उनमें आन्तरिक सम्बन्ध होगा, या शरीर के रक्त, रज वीर्य का, या हृदय, प्रेम का। पिता, माता पुत्र का सम्बन्ध तो रक्त का है। पिता का पुत्र से, किन्तु पुत्र का पिता से प्रेम के गुण से अर्थात् आत्मा का आत्मा के साथ सम्बन्ध तो गुण द्वारा हो सकता है और प्राकृतिक सम्बन्ध द्रव्य से होते हैं।

——

३. 'मैं' 'प्रभु' और 'धर्म'

आत्मा और परमात्मा की शक्ति का नाम 'मैं' है जिसनें सब को अपनें भीतर धारा और उठाया हुआ है। इसी 'मैं' से ही आत्मा और परमात्मा में दूरी है। मनुष्य के भीतर से जीतना अंश 'मैं' का कम हो जाता है उतना अंश 'मैं' का प्रभु से घिर जाता है। वह किस स्थान में घिरता है? शरीर में, प्राण में, मन में नहीं घिरता बल्कि बुद्धि में घिरता है। उस समय उसकी वाणी से यों शब्द निकलते हैं 'किन्तु अमुक कार्य बहुत ही कठिन था, मुझे अपने ऊपर किंचित् भी विश्वास नहीं हो सकता था परन्तु प्रभु की ऐसी कृपा हुई कि जब मैं करने लगा तो कोई पता ही नहीं लगा।' यदि मन में प्रभु घिर गया होता तो. मनोमय कोष में अहंकार रहता है तब अपनें कर सकनें का नाम न लेता। अब अपनें करनें का अहंकार तो है किंतु सात्विक हो गया है क्योंकि बुद्धि ज्ञान में प्रभु ने अपनी समाई की है तब से उसे ज्ञान हो रहा है कि मैं नहीं कर सकता। प्रभु की कृपा का भान बुद्धि ज्ञान से हो रहा है। मनुष्य बहुत निर्बल है। धर्म को धारण सहसा नहीं कर सकता। धर्म बहुत भारी है। यदि अहंकार

से, जैसे अन्य दायित्वों को ले लेता है, इस बल प[र] उठाना चाहे, तो सहसा कुचला जाए। इसलिए साह[स] नहीं करता। धीरे-धीरे धर्म के समीप जाता है औ[र] अंशमात्र ग्रहण कर लेता है और वही थोड़ा धर्म धार[ण] किया हुआ उसे बड़े-२ भयों से रक्षा करता है। इस लिए कि जहाँ धर्म धारण किया है वहीं प्रभु आक[र] बसे हैं।

२०-५-४६ सोमवार सायम्
७ ज्येष्ठ २००३ दि. चतुर्थी (कृ०)

'बालकों में आस्तिकता के उत्तम संस्कार भरें।'

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्

मनुष्य के आहार और व्यवहार का तो लोगों को शीघ्र पता लग जाता है, किंतु आचार और विचार का पता बिना प्रकट किये नहीं लग सकता। परन्तु परमेश्वर देव मनुष्य के 'विश्वानि वयुनानि' प्रत्येक प्रकार के आचार विचार आन्तरिक का 'विद्वान्' जानने वाला है। हम लोग इस मन्त्र को प्रतिदिन हवन की प्रार्थना समय

पढ़ते हैं किन्तु हम पर इसका प्रभाव नहीं होता। जब तक संस्कार रूप से इन शब्दों का घर हमारे भीतर न बने। संस्कारों का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है और आज हम लोग न चाहते हुए भी संस्कारों के वेग से घिरकर वैसा कर बैठते हैं। मेरी मां मेरे बचपन के संभलते काल से अन्तिम आयु तक भोजन करने पर और रात को सोते समय जिन शब्दों को कहा करती थी और मेरे कान में पड़ते रहते थे। यद्यपि मैंने कभी ध्यान नहीं दिया था न कभी उन पर आचरण किया था किन्तु आज प्रत्यक्ष रूप से मुझ पर बलपूर्वक अमल हो रहा है। वह क्या ?

मेरी मां भोजन कर चुकने पर तुरन्त कहती, 'शुक्र-शुक्र, प्रभु, डेंदा, पलेंदा, जीवें डेंदा, पलेंदा, जीवें।' अर्थात् दाता और पालक को दुआ देती कि तू सदा जीता रह। सारी आयु सुन-सुनकर भी मैंने कभी नहीं कहा था किंतु अब माँ के परलोकगमन पश्चात् इस व्रत में बिना किसी इच्छा या बनावट के अपने आप भोजन करने पर मुख से निकलता है, 'शुक्र है, प्रभु का शुक्र है' या 'डेंदा, पलेंदा, जीवें।'

एक दिन मैंने जब ऐसा किया तो फिर सोचा-यह तू कैसे कहने लग गया। वह दाता, पालता तो सदा जीवित अजर-अमर है किन्तु प्रतिदिन ये शब्द निकलते हैं। बचपन में रात्रि के समय गर्मी के मौसम में जब ऊपर सोते थे तो एक पक्षी बड़ी तेजी के साथ आवाज करता निकल जाता। उसी समय माँ राम ! राम ! बोल पड़ती। एक बार हमने कहा कि यह पक्षी भगवान् की ओर से आता है प्रजा की सुध लेने के लिए कि कौन-२ भगवान् को स्मरण करता है। तब ऐसे सुन लिया था, समझ ही न थी किंतु जब तक मैं घर रहा गर्मी के मौसम में मां को सदा ऐसा (बोलते) सुनता रहा। यह काल सब समझ का था तो उसे भ्रम का सा विचार समझा किन्तु मै अब स्वयं कई वर्षों से, जब कभी भी ऐसा संयोग बनता है, पक्षी को जाता अनुभव करता हूं, चाहे जप करके ही सोया होता हूँ तब भी मेरे भीतर से ओं-ओं होने लग जाता है। मैं इस को नहीं समझ सका किन्तु अब समझता हूं—मा के संस्कारों का यह प्रभाव है। जो प्रतिदिन सुनता रहा। मुझे आज इस मन्त्र पर विचार आया कि यदि मां, बाप या गुरु अध्यापक बचपन में बच्चों को इस मन्त्र का रहस्य

सुनावें और प्रतिदिन उन्हें समझावें। जैसे हिन्दु-जाति में सामान्य संस्कार पाया जाता है दया का। बचपन में जब बच्चे चींटी मकोड़ों को खेल के रूप में मारने लगते हैं तो मां कहती है—ओहो, यह बड़ा पाप है। तो बच्चा पाप को न जानता हुआ भी मां के संकेत को ऐसा समझा जाता है कि उसे पाप कोई भयानक वस्तु दृष्टि में आती है। और फिर इसी संस्कार से कीड़ों मकोड़ों को नहीं मारता और बड़ा होने पर यह संस्कार बराबर और जीवों के लिए भी काम करता है। इसलिए प्रभु के अन्तर्यामी रूप का संस्कार इन शब्दों द्वारा 'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्' बच्चों में बिठा दिया जावे तो बड़े होने पर जब भी उनके हृदय में बुरा विचार उठने लगेगा तो अन्तर्यामी प्रभु का भय लगेगा।

मैं इस व्रत में 'स्वाध्याय सन्दोह' की कृपा से ऐसे छोटे-२ चरण प्रायः मन्त्रों में से निकाल कर प्रतिदिन दिन रात में अनेक बार उनका उच्चारण और मनन करता हूँ। मुझे बहुत-२ लाभ पहुंच रहा है। मन के प्रबल वेग को भी एक बार तो इन्जेक्शन की भांति तुरन्त रोक देते हैं।

—ॐ—

२१-५-४६ मंगलवार ३ बजे प्रातः
८ जेष्ठ सं. २००३ वि० पंचमी (कृष्णपक्ष)

'प्रभु के गुणकर्म स्वभाव बच्चों में भरें'

कल के 'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्' का एक विचार और उत्पन्न हुआ कि गुरुकुल और विद्यालयों में पढ़ाई तो विद्या जाती है किन्तु रहती है वह भाषा ही। विद्या का तात्पर्य तो महर्षि ने आर्य समाज के प्रथम नियम में लिखा कि 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उनका आदि मूल परमेश्वर है। विद्या तो तब गिनी जाए जब पढ़ने वाले को दूसरे नियम में लिखे ' परमेश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, निर्भय, अनुपम, अजर, अमर, सृष्टि का कर्त्ता, दयालु, कृपालु अन्तर्यामी···इत्यादि उसी की उपासना करनी योग्य है का ज्ञान तो किसी न किसी रूप से परमेश्वर के उन नामों का कम से कम मस्तिष्क में सिक्का बैठ जाए। जो मनुष्य के जीवन-व्यवहार में आवश्यक हैं। बड़ा हो जाने पर और कार व्यवहार में गृहस्थ में फंस जाने पर मनुष्य को उतना अवकाश और समय नहीं मिल सकता कि वह ऐसा मनन करे। मन

की चंचलता बढ़ी हुई होती है। सैंकड़ों चिन्तायें, दायित्व लगे हुए होते हैं। मनन नहीं कर सकता। यदि बचपन में ऐसे संस्कार पड़ते रहें तो गृहस्थ में समझ अधिक होने के कारण अपने आप प्रभाव होकर प्रभु का भय बना रह सकता है। इसलिए पाठ पढ़ाने के साथ सिखाना भी हो तो सफलता विद्यालयों की हो सकती है। माता पिता को यदि ठीक रूप में अपनी संतान के आत्मिक कल्याण का हित हो तो वह दिन रात में ऐसा समय अवश्य निकाल सकते हैं जब कि वह बच्चों को किस्से कहानियां ऐसे-ऐसे बनाकर सुनावें जिसके द्वारा बच्चों पर प्रभु की लीला की अद्‌भुत छाप लग जाये। उदाहरण-वह प्रभु दया कैसे करता है ? वह प्रभु निरा-श्रय का आश्रय कैसे बनता है ? कठिन समय में वह रक्षा कैसे करता है ? अत्याचारी को भीतर ही भीतर बिना पुलिस या अधिकारी के दण्ड कैसे दे देता है ? अनाथ का निर्वाह कैसे पहुँचाता है ? दीन दुःखी के दुःख को कैसे मिटाता है ? माता-पिता सम्बन्धियों और हकीमों व डाक्टरों की विद्यमानता में वह कैसे जीवात्मा को, किस प्रकार चोरी से निकाल ले जाता है ? निर्धन, अनाथ, असहाय को वह कैसे बड़ा धनाढय और उच्च-

अधिकारी या सम्राट् बना देता है ? वह कर्मफल देने में कैसा ईमानदार है ? अपने भक्तों की कैसी सुधी लेता है ? इत्यादि-२ छोटी-२ और सत्य कहानियाँ बच्चों को सुना सुनाकर बचपन से ही प्रभु का विश्वासी और सच्चा आस्तिक बना सकते हैं ।

प्रतिदिन सत्य घटनायें सँसार में होती रहती हैं ।

'ओं उपनः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृडीका भवन्तुनः' । य० ३३-७७

—*—

२२-५-४६ बुधवार ९-३० प्रातः
९ जेष्ठ २००३ वि. षष्ठी (कृ.)

योग और यज्ञ,

मनुष्य जन्म में दो कार्य उन्नति के साधक हैं—इस लोक और परलोक की यात्रा के लिए यज्ञ और योग । दोनों में अक्षर एकसे ही हैं, केवल योग में मात्रा अधिक है । दोनों की उन्नति के लिए आदेश है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' । तम=अन्धकार से ज्योति-प्रकाश की तरफ जाना । प्रकाशमय पदार्थ या तत्व अग्नि कहलाता है । यज्ञ में भी अग्नि का संग या भेंट और योग में अग्नि

(परमेश्वर) की शरण या भेंट होती है। यज्ञ से बाहर का प्रकाश अर्थात् बाह्य के सब सुखद पदार्थ सर्वशांति और योग से अन्तर का प्रकाश मिलता है। दोनों की प्रक्रियायें स्वाहा से पूरी होती हैं। यज्ञ में अपने पदार्थों द्रव्यों का स्वाहा-त्याग अर्पण किया जाता है। अपना अस्तित्व अहंकार अपने साथ रह जाता है। किन्तु योग में अपना आत्म त्याग या समर्पण होता है। क्षुद्र अहंकार और अस्तित्व मान में मिला दिया जाता है। दोनों का कारक या कर्ता मन की एकाग्रता है। यज्ञ में, मन इन्द्रियों सहित यज्ञ में तन्मय होता है और योग में मन इन्द्रियों के सब व्यापार को सिकोड़ समेट कर आत्मामय होता है। यज्ञमय जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य का चिह्न है जिसकी सब इन्द्रियां यज्ञ-परोपकार संसार के लिए हों 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'। इत्यादि सबका 'यज्ञेन कल्पताम्' किया गया। इस समय आत्मा परोपकार के लिए जीवन व्यतीत करता या कार्य करता कराता है। योग में सब इन्द्रियां और मन का कार्य या जीना प्रभुअर्पण होता है। दोनों का फल स्वर्ग कहा है। स्वर्ग का अर्थ भी तो सुख विशेष होता है, किन्तु

सुख विशेष होता हैं, स्वतन्त्रता में। जिसके पास सब पदार्थ हों कोई कमी न हो किन्तु वह अपनी इच्छा के बिना किसी सहारे के न आ जा सकता हो। या जिसे काल की, देश की दूरी हो उसका स्वर्ग इस लोक का स्वग है। स्व=अपना, र=प्रकाश,=गति; जो अपने प्रकाश अर्थात् अपनी शक्ति से गति कर सके। वह स्वर्ग है।

यज्ञ करने वाले मनुष्य की दी हुई आहुति इस संसार तक सीमीत होती है यदि ऐसा मनुष्य चक्रवर्ती राजा होगा तो भी आने जाने के लिए यान को आवश्यकता पड़ेगी। उसे दूरी पार करने के लिए काल=समय की आवश्यकता पड़ेगी परन्तु आत्मसमर्पण करने वाला मनुष्य योग द्वारा ब्रह्ममय हो जाता है। उसे देश और काल की दूरी नहीं रहती। स्वेच्छाचारी ऐसा कि संकल्पमात्र से पहुंच सकता है। योग में सब इन्द्रियों को योगमय बनाना पड़ता है और यज्ञ में यज्ञमय। यज्ञ में सब इन्द्रियां और शरीर कार्य करते हैं। योग में सब क्रिया कार्य रहित होती हैं। यज्ञ में मन कामना सहित और योग में कामना रहित यज्ञ में आत्मा याचक होता है, योग में आत्मा सेवक होता है। यज्ञ में यजमान आत्मा की ही सब कुछ सम्पत्ति होती है। योग में सब कुछ

परमात्मा का होता है। यज्ञ तो यजमान दूसरों, ऋत्विजों की सहायता से भी करा सकता है, परन्तु योग अपने बिना नहीं हो सकता। सबका सारांश एक शब्द में समझ लेना चाहिए—जो आदि सो अन्त।

यज्ञ में दूसरों की सहायता की आवश्यकता है और योग में किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं। यज्ञ की नींव में जितनी परतन्त्रता है योग में उतनी स्वतन्त्रता है यद्यपि यह परतन्त्रता परतन्त्रता नहीं समझी जाती। संगठन, संगतीकरण के आधीन ही रहता है। योग में अपनी ही इन्द्रियों का आप ही संगतीकरण रहता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेद में तो यज्ञ करने वाले को मुक्ति मिलनी भी लिखी है, फिर ? उसका उत्तर यह है कि यज्ञ को यदि योग की दृष्टि से किया जाये तो मुक्ति भी मिलती है किन्तु यह असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। कैसे योग दृष्टि से किया जाय ? जैसे एक स्वामी भूमिपति की विस्तृत भूमि है किन्तु वह अपने स्थान से कहीं नहीं जाता। उसके कर्मचारी सब कार्य करते हैं-नौकरों से रखवालों से, भूमि जोतने वालों से स्वयं ही जाकर कृषि कराते, अपनी देखभाल करते, करवाते, फसल बांट कर सब

स्थानों से एकत्रित करके स्वामी भूमिपति के पास ही अर्पण कर देते हैं। काम वे स्वामी का, उसी की तरह से करते हैं किन्तु न वे भूमि को अपनी भूमि समझते हैं, न रखवालों और कृषकों को अपने अधीन कर्मचारी समझते हैं। न बीज को अपनी सम्पत्ति समझते और न फिर सारे अन्न भण्डार को अपना समझते हैं। उन सब में स्वामी के नाम की छाप लगी रहती है। वे रहते हुये, खाते पीते, अच्छी सवारी पर चढ़ते, सुख भोगते भी दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु हानि-लाभ, महंगाई-सस्तापन से विमुक्त रहते हैं। ऐसा यजमान तो बिरला यज्ञमय होता है सो मुक्ति भी पा लेता है और ऐसे ही कोई बिरला महापुरुष योग इसलिए करता है कि उसे यज्ञ रूप दे दे जैसे यजुर्वेद के अध्याय ११ मन्त्र १ में आया है—

'ओं युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविताधियः।
अग्निर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याः अध्याभरत्'

कि पहले अपने मन में और प्राण द्वारा योग अर्थात् उनको वश में करके तत्व का दर्शन करे और फिर उस ज्योति को पृथिवी पर उतार लाकर पृथ्वी के प्राणियों

को भरपूर करे। जैसे ऋषि दयानन्द जी महाराज, या भगवान शंकराचार्य जी। वहीं तो प्रायः योगी लोग योग अपनी ही मुक्ति के लिए कहते हैं। जैसे यज्ञ प्रायः लोग अपने लिए करते हैं। 'यज्ञ' शब्द के उच्चारण में दोनों ओष्ठ बाहर खुलते हैं और योग शब्द के उच्चारण में दोनों ओष्ठ भीतर को सिकुड़ते हैं।

६ बजे सायम्

शारीरिक और आत्मिक उन्नति

सामाजिक उन्नति के लिए शारीरिक और आत्मिक उन्नति प्रथम आवश्यक है। शारीरिक उन्नति होगी उदर को स्वच्छता से और आत्मिक उन्नति होगी हृदय की स्वच्छता से। बस यही नियम दोनों की उन्नति का है। अन्य नहीं। इसलिए, सामाजिक उन्नति निर्बल है।

—०—

२३-५-४६ वृहस्पतिवार प्रातः यज्ञ के पश्चात्
१० ज्येष्ठ २००३ वि० सप्तमी (कृष्णपक्ष)

'प्रभु में मन न टिकने का कारण'

मनुष्य प्रभु की अद्भुत लीलाओं को देखकर, सुन कर और उस प्रभु के उपकारों को अपने साथ होने पर

भी, उसमें पूर्ण प्रीति नहीं करता। कई एक व्यक्ति मेरी भांति हैं जिनकी प्रभु ने बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से रक्षा की, बाल-२ बचा दिया, विचित्र रूप से सहायतायें की, तब भी उसमें प्रीति नहीं जमती, क्योंकि प्रीति का चिह्न है मन का योग। जब हम प्रभु के समीप जावें तो मन प्रसन्नता से उछलता हो। ऐसे प्रीतम में लग जावें, टिक जाये किन्तु ऐसा नहीं होता। मन दूसरी ओर निकल जाता है। क्या कारण ? या तो प्रभु की दया, कृपा, रक्षा का रूप अपनी आंखों से न देखा होता तब तो बहाना बन सकता था। कारण यह है–प्रीति उससे होती है जिससे मनुष्य की मांग, मन की चाह पूरी होती है। परमेश्वर सब कामों का पूरा करने वाला तो प्रसिद्ध है, उसका नाम विधाता है किन्तु मनुष्य में अधिकतर इच्छा और मांग रहती है पापमय। इसलिए वह परमेश्वर से पूरी नहीं होती। फिर मन कैसे टिके ? यह तो ऐसा देवता है कि बच्चे का माता पिता से कितना प्रेम और प्यार होता है। किन्तु जब उनके विवाह हो जाते हैं तो उनकी श्रद्धा और प्रीति होते हुए भी, समय-२ पर, स्त्री में प्रीति और माता-पिता में अप्रीति हो जाती है। मनुष्य प्रयोजन लेकर आया और प्रयोजन का बन्दा है।

जिससे जो प्रयोजन सिद्ध होता है उसी से प्रीति करता है। उस व्यक्ति की प्रभु में प्रीति हो सकती है, जिसके मन में पाप की वासना-चाह ही नहीं रही। मैं बहुत चकित था, कई दिनों से मेरा मन ध्यान में प्रातः टिकता नहीं, तुरन्त नींद आने लग जाती है। जब पेट को हल्काऔर खाली रखने पर नींद नहीं भी आती, तब भी मन दूसरी ओर निकल जाता है जब निरन्तर प्रभु की शरण में हूँ। यज्ञ समय भी मन दूर-२ चला जाता है। अभ्यास, बिना श्रद्धा प्रीति के दृढ़ नहीं होता क्योंकि योग दर्शन में लिखा है, 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितोदृढ़भूमिः योगदर्शन १।१४

मेरे जीवन काल में प्रभु की दया और कृपा, रक्षा बड़ी विचित्र और अनन्त मेरे साथ रहीं। जब-२ स्मरण करता हूँ। प्रेम से आंसू बहा देता हूँ किन्तु देख, भाल और जानते हुए भी क्यों प्रीति न हो? कोई Devil Soul आसुरी शक्ति बाधा न डाल रही हो। तो आज समझ में आया कि मेरे मन में अनन्त कामनायें भी तो बहुत घुसी हुई हैं। केवल प्रभु की ही कामना नहीं। इसलिए वह नहीं टिकता। मुझे जब शरीर का सुख प्यारा लगता है ? तब प्रभु कैसे प्यारा लग सकता है ? मेरा मन जब प्रशंसा और मान की कामना करता है तो प्रभु कैसे प्यारा लगे ? सब मैं भूला रहा। मैं

अभ्यास का अर्थ यही समझता रहा कि परमेश्वर का ध्यान चिंतन, जप का लगातार दीर्घकाल तक बराबर करते और लगे रहना अभ्यास है। वास्तव में योग-दर्शन में अभ्यास का अर्थ तो था वैराग्य का अभ्यास। सिवाय परमेश्वर के सब अन्य पदार्थों में जहां-२ कामना और प्रीति मन की बनती है, उन सब में बार-२ दोष दृष्टि से उन्हें अपने मन से दूर करना और जब दूर हो गई उसे निकट न आने देने का अभ्यास करना। तब केवल परमेश्वर में पूर्ण प्रीति हो सकती है। यही कारण है कोई बिरला प्रभु को पाता है।

इस व्रत में अभी और तो कुछ बनता दृष्टि न आया यह भी प्रभु की बड़ी कृपा है कि चुन-२ कर सूक्ष्म भूलों त्रुटियों और उनके कारणों का भान हो रहा है। परमात्म देव, 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शत-क्रतो बभूविथ अधा ते सुम्नमोमहे' ऋ० ६।७।२ सा० ३. ४. २ (मं० ११७०) आप ही पिता, वसु (बसेरा देने वाले) मेरे लाज रक्षक हो। आप ही सैकड़ों कृत्यों में प्रवीण मेरी माता हो।

आप अब मुझे संभाल ढांप लो। जो भूलें अब मुझे अनुभव करा रहे हो वे पुनः न होने पावें तो यही भी मेरे लिए बहुत-२ सौभाग्य है (गनीमत है) आप तो

ऐसे 'वसु' और 'शतक्रतु' 'सुम्न' मंगलकारक हो कि बन्दीगृह में भी जिस बन्दी (महा अपराधी, कुकर्मी) पर दया करते हो उस का जीवन सदा के लिए सुधर जाता है। मैं तो तेरा आश्रित तेरी चरण-शरण में पड़ा हुआ हूँ।

——

२४-५-४६ शुक्रवार ८ बजे प्रातः
११ ज्येष्ठ २००३ वि० अष्टमी (कृ०)

'पाप का फल-व्यक्ति और स्थान भेद से।'

मनुष्य को पापों का दण्ड शास्त्रानुसार दस स्थानों
१ २ ३ ४ ५ ६
पर मिलता है। आँख, नाक, कान, जिह्वा, हाथ, पैर,
७ ८ ९ १०
उदर, उपस्थेन्द्रिय, शरीर और धन। इसके अतिरिक्त अपयश, निन्दा, निर्बुद्धि और मूर्खता के रूप में। जब सब पापों का फल देशकाल और अपनी-२ अवस्था के अनुसार मिलता है, सबको एक जैसे पाप का फल एक जैसा नहीं मिलता—क्योंकि एक ही प्रकार के पाप के कारण भिन्न-२ होते हैं। उदाहरण—एक साधारण दुकानदार दिन भर झूठ बोलना केवल ग्राहक को प्रसन्न या विश्वास कराने के लिए होता है। केवल मौखिक पाप

असत्य का करता है। एक वकील भी झूठ बोलता है किंतु वह मन से नहीं बोलता। इस झूठ को उसकी बुद्धि घड़ती है। इसका प्रयोजन प्रतिवादी को हानि पहुंचाना नहीं, न उसे कोई शत्रुता होती है, केवल मात्र अपने ग्राहक (मुवक्किल) की रक्षा करना प्रयोजन है। और इसे वह अपना कर्तव्य जान कर झूठ बोलता या झूठे पक्ष की सहायता करता है। एक व्यापारी, लेन देन में जब बहुत मंहगाई, सस्तापन (घटी-बढ़ी) होती है तब वह भी झूठ बोलता है तो छल और कपट से बोलता है। दो बड़े दुकानदार या व्यापारी या कार-खाना वाले प्रतिस्पर्द्धा (मुकाबला) होने से झूठ बोलते हैं तो ईर्ष्या के कारण। ऐसे अज्ञानता से झूठ बोलना जैसे बालक बोल देता है। कोई पार्टी बाजी में बदला लेने के लिए क्रोध, द्वेष, बुद्धि से झूठ बोलता है। कोई मोह वश झूठी गवाही दे देता है या झूठ बोल देता है। कोई मित्रता के लिए, कोई अपनी किसी कामना स्वार्थ-पूर्ति के लिए, दूसरे के लिए झूठ बोल देता है और कोई स्वार्थ–लोभ से। इसलिए सब का पाप तो झूठ का है किंतु कारण भिन्न-२ होने से दण्ड भी अपने प्रकार का न्यून या अधिक हो जाता है, अवस्था भेद से। एक शुद्र है जिसने झूठ बोला और दूसरा ब्राह्मण है। या एक संन्यासी है या दूसरा गृहस्थी है। इसलिए इनको भी

न्यून अधिक दण्ड होगा। शुद्र की कोई निन्दा नहीं होगी किन्तु ब्राह्मण और संन्यासी की तो पूर्व प्रतिष्ठा का, वर्तमान और भविष्य में अपितु अगले जन्म में भी, नाश हो जाएगा। एक निर्धन भय से झूठ बोलता है। न उसे लोभ है, न शत्रुता। एक देश स्वतन्त्र है दूसरा परतन्त्र। एक देश शिक्षित है, दूसरा मूर्ख अनपढ़ अशिक्षित। जहां असत्य बोलने वाले का निवास है। देश से अभिप्राय यहां राष्ट्र नहीं बल्कि वह स्थान जहां बसता है। ऐसे काल, आपत्काल में असत्य बोला, या सुकाल में। इस पाप का कैसा दर्जा है दण्ड का? अज्ञानता बालकपन में १-१००। मोह के कारण उस से दुगना २-१००, भय से ४-१००, मित्रता से ८-१००, कामना से १६-१००, लोभ से १०-१००, शत्रुता या क्रोध से ३०-१०० अर्थात् जो पाप बालक का एक पैसा समझा जावे तो मोह का दुगना (दो पैसा) अज्ञानता का चौगुना (चार पैसा) भय का चौगुना परन्तु थोड़ा कम (चार या पौने चार पैसा), मित्रता का आठ पैसा, कामना या काम १६ पैसा, लोभ का दस पैसा, और शत्रुता क्रोध का तीस पैसा समझना चाहिए।

पार्टीबाजी शत्रुता, बदला, द्वेष भाव से असत्य बोलने वाले का सबसे अधिक पाप असत्य का माना गया है। जो दुकानदार साधारण रूप से अपनी जानकारी में,

अपने कथन को झूठ नहीं समझता, क्योंकि वह केवल ग्राहक को प्रसन्न करना चाहता है और तोल माप में ईमानदारी रखता है उसको फल, दण्ड वाणी के द्वारा मिलेगा। अर्थात् उसकी वाणी निर्बल रहेगी। लोक में उस व्यक्ति की कोई सुनवाई न होगी। चाहे वह बड़ा धनी भी बन जावेगा, या शरीर का बलवान भी होगा। दूसरों के अधीन रहेगा अपनी बात पहुँचाने वा मनवाने में। जो वाणी से तो झूठ नहीं बोलता किंतु माप या तोल कम करता है, न्यून अधिक लिखता है, तब बाहू या हाथ को दण्ड मिलेगा। इत्यादि-२।

असत्य, निर्बल हो या बलवान किसी दूसरे को हानि न पहुँचाने वाला हो, या बहुत हानिकारक हो, दोनों अवस्थाओं में आत्मा से दूरी का कारण है। एक वकील साहब यद्यपि असत्य के कथन घड़ता है पर अपने ग्राहक या वादी की रक्षा में सफल नहीं होता तो उसके मन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। न वह पश्चाताप से चादर तान सोता है किंतु एक बदला लेने की भावना से झूठ बोलने वाला जब असफल हो जावे तो उसके शरीर में कम्पन, आंख-कान लाल, प्राणमन में रोष, क्रोध, बुद्धि में दावपेच, वाणी पर गाली, अपशब्द आ जावेंगे। तात्पर्य यह कि सारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर

पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए शास्त्रकारों ने अत्यन्त या बड़ा भारी पाप कहा और उसका दण्ड ऐसा अधिक निर्धारित किया।

५-३० सायम्

'साधक फिसलता है मान से'

वास्तविक आध्यात्मिकता का आधार सत्य ही है और साहस उस का प्राण है। ऐसा योगियों का, शास्त्रों का कथन है। किंतु बल उसी में आध्यात्मिक उत्पन्न होता है जिसमें उसे पचावे, गुप्त रखने की सहन शक्ति हो। उतावलापन, जल्द बाजी न हो। अनेक साधक सत् क्रियाओं को करते हुए भी, जब उनसे कोई चमत्कार का कार्य हो जाता है तब उसे ढक (छिपा) नहीं सकते।

अपने तुरन्त फल की इच्छा से वे प्रकट कर देते हैं कि उनकी प्रशंसा हो। प्रशंसा तो अवश्य होनी ही थी क्योंकि उस सत्कार्य का तात्कालिक फल स्वाभाविक रूप से यही निश्चित है किंतु वह स्वयं ही उतावला हो जाता है। इससे उसका साहस अर्थात् प्राण, आध्या-

त्मिकता का निर्बल या बीमार पड़ जाता है। वेद ने कहा है–'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखम्' सत्य का मुख सोने के ढक्कन से छिपा रहता है। लोग बाहर की सोने की चमक पर आकर्षित और मोहित होते हैं और ज्ञानी उस चमक के भीतर सत्य स्वरूप का भाव करते हैं। आध्यात्मिक बल से प्रकाशित योगी का मुख भी, वाक्‌वाणी भी, मुस्कराहट से छिपी रहती है। उसके आन्तरिक बल का ढकना मुस्कराहट होता है। वह वाणी से अपना बल प्रकट नहीं करता और लोग उस की मुस्कराहट पर लट्टू होते और खिंचे जाते हैं। जब वह प्रकट भी करता है तो उस सच्चाई को जो उसे प्राप्त है, अपनी कोई आकांक्षा न रखते हुये, लोकहित के लिए प्रकट करता है। गृहस्थियों का कदम फिसलता है काम विषय और लोभ वृत्ति से किन्तु एक जितेन्द्रिय साधक योगी का कदम फिसलता है अपनी प्रशंसा की आकांक्षा से।

२७-५-४६ सोमवार ७-३० प्रातः
१४ जेष्ठ २००३ वि. एकादशी (कृ.)

स्वाध्याय का सच्चा अर्थ

उपनिषदों में पढ़ा था कि स्वाध्याय की इतनी महिमा है, कि सम्पूर्ण पृथ्वी को रत्नों से भर दिया जाय

जाय तो भी स्वाध्याय के फल से कम है किंतु इसका मन पर इतना विश्वस्त प्रभाव न पड़ता था। ऋषि दयानन्द महाराज ने भी संस्कार विधि में लिखा कि ब्रह्मचारी का जब स्नातक होकर समावर्तन संस्कार हो उसे गुरु आदेश दे कि स्वाध्याय त्याग न करना। स्वाध्याय का अर्थ विद्वानों ने यही किया कि वेदशास्त्र आदि धार्मिक पुस्तकों का पढ़ना या अपनी आत्मा का अध्ययन करना! यद्यपि पुस्तकों के पढ़ने से भजन ध्यान में बहुत सहायता मिलती है। अनुभवी महात्माओं के जीवन और उनकी बनाई पुस्तकों का स्वाध्याय किया जाए तो बहुत उलझनें सुलझ जाती हैं। जितने योगदर्शन मैंने देखे उनमें स्वाध्याय का अर्थ वेदशास्त्र का पढ़ना ही पढ़ा। आज पूज्य श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज के 'योगोपनिषद्' में लिखे 'योगदर्शन' में स्वाध्याय का अर्थ बड़ा मार्मिक पढ़ा स्व का विचार। 'स्व' के चार अर्थ १. आत्मा, २. आत्मीय, ३. ज्ञाति, ४. धन। अर्थात् आत्मा क्या है? आत्मीय-निकटबन्धु कौन है? ज्ञाति—सम्बन्धी कौन है? धन क्या है? इनका सदा विचार करने का नाम स्वाध्याय है। ऊपर की सतह में जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य तो इतना विचार कर सकता है कि आत्मा, जो शरीर में रहता है। आत्मीय-माता

पिता, पुरुष स्त्री भाई, ये निकटबन्धु हैं और बिरादरी और परिवार वाले चाचा, मामा आदि सम्बन्धी हैं। धन वह हैं जिस से हमारा कार्य व्यवहार चलता और आवश्यकतायें पूरी होती हैं। इन का स्वाध्याय कोई क्या करे जब ये तो हमें मालूम ही हैं और प्रत्यक्ष हमारे हैं। फिर विचार कैसा ? विचार तो सदा इस बात का किया जाता है जो आसान से कुछ कठिन हो। सम्मुख न हो कर कुछ दूर हो, ओझल हो, कोई विशेषता हो और स्वाध्याय का कोई विशेष लक्ष्य हो, लक्ष्य के पीछे यह सब छिपा हुआ विशेष है। आत्मा और आत्मा के निकट आत्मा का सम्बन्धी, आत्मा का धन। जो हम प्रत्यक्ष में देखते हैं वह सब शरीर के साथ सम्बन्धित है। जब मनुष्य अपनी 'मैं' (आत्मा) को लोगों के सामने बताता है तो प्रायः छाती या हृदय पर हाथ रख कर कहता है, 'यह मैं कह रहा हूँ। माता-पिता स्त्री सब शरीर के बन्धु हैं। परिवार बिरादरी सब शरीर के सम्बन्धी हैं और व्यावहारिक धन भी शरीर का ही है। शरीर के न रहने पर अब किसी का उससे सम्बन्ध नहीं और उनके रहने पर शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए हमें आत्मा के सम्बन्धित विषयों का विचार करना चाहिए। अब ऊपर से नीचे के स्तर

पर जीवन बिताने वाला मनुष्य आत्मा के निकट मन, बुद्धि, अहंकार को बन्धु समझता है। क्योंकि आत्मा का सब भार दायित्व उन्होंने ही उठाया हुआ है और इन्द्रियां उसकी सम्बन्धी हैं। आत्मा का बल पांच कोष हैं—(अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय)। किन्तु येसब चंचल हैं और सांसारिक विषयों की ओर ले जाने वाले हैं क्योंकि प्रकृति से बने हैं। सांसारिक विषयों के मेल से ही सब पाप होते हैं और इसीलिए अब तक आत्मा स्वतन्त्र नहीं हो सकी।

इससे और नीची सतह में रहने वाला विवेकी पुरुष है। वह विचार करते-२ पहुँच सकेगा कि आत्मा क्या है? निकट बन्धु कौन है? सम्बन्धी कौन है? आत्मा का धन क्या है? लिखने को लिख दिया जावे किन्तु वह अपनी विचारी हुई बात नहीं। वह तो एक उत्तर है जो ऋषियों का विचारा हुआ होता है। इसके विचार करने का ढ़ंग भी हमें तब आ सकता है जब मन और इन्द्रियों के मेल से फंसाने वाले विषयों की असारता-हानि को बुद्धि में बिठा लेवें। केवल ऊपर से जान ही न लेवें। इसके बिना, विचार करने का ढ़ंग किसी को आ ही नहीं सकता क्योंकि योगशास्त्र में स्थूल पापों, उनके कारणों को सूक्ष्म करने, या हटाने का साधन

तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान—ये तीन क्रियां-योग बताया। हम लोग व्रत करते हैं किन्तु वह तप के आधार पर सफल हो सकता है और लोगों की दृष्टि में तो एक साधक तपीश्वर समझा ही जावे परन्तु शास्त्र उसे पास नहीं करते। द्वन्द्व गर्मी-सर्दी भूख-प्यास, हानि-लाभ को सहन करना, मरखप कर तो सहन हो जाता है या समय बीत ही जाता है किंतु तप तो तब है जब सहन करना बिना चिन्ता और शोक के हो। अभी गर्मी आने वाली थी कि हमें मच्छरों और ततैयों की चिन्ता पहले हो गई। अब मुझ जैसा व्यक्ति कैसे कह सकता है कि मैंने भी तप किया। वाह रे प्रभु! तेरी विचित्र लीला है! जब मैं अपने आप में अपने को अनुत्तीर्ण अनुभव कर रहा हूँ तो तुझे कौन सिफारिशकरेगा—मुझे पास (उत्तीर्ण) करने के लिए ?

तेरी शरण में आयके फिर आश किसकी कीजिए ?

हे अशरण के शरण ! आप ही अपनी मति और शक्ति दीजिए कि पार उतारा हो !!!

२—'तप'

किसी साधक को, 'तप' को पढ़कर निराशा न होनी चाहिए। यही शरीर ही धर्म अर्थ मोक्ष का साधन

है, इसलिए इसकी रक्षा बहुत आवश्यक है। 'तप' का यहां प्रयोजन 'साधय का है। एक बार किसी साध्य की सिद्धि के लिए जब साधन चुन लिया, तब फिर विपत्ति' न्यूनाधिक, आवे, उसे न छोड़ना तप है। उदाहरण एक व्यक्ति ने एक धारणा की कि सर्दी में एक ही कम्बल से निर्वाह करूंगा। संयोग से सर्दी कड़ाके की पड़ गई। अब वह यदि घबराता है और दूसरा कम्बल या रजाई लेने की इच्छा करता है तो उसका तप भंग है। जिस मानसिक शक्ति के बलबूते पर एक कम्बल से सर्दी बिताने का संकल्प किया था, अब भी उसी मानसिक शक्ति को स्मरण करके कम्बल के साथ मिलाकर सर्दी की परवाह न करे। आत्मिक साधनों में तो शरीर की रक्षा का पहले ही यथोचित प्रबन्ध विचार लिया जाता है। ऐसा नहीं कि व्यर्थ ही गर्मी में नंगे पैर धूप में खड़े होने का नाम 'तप' है। वह तामसिक तप है। ऐसे ही मच्छरों, ततैयो आदि की चिन्ता करना तो व्यर्थ है हाँ उनसे अपनी रक्षा करना कोई तप का भंग नहीं। यदि अपने साधन बचाव से वे अधिक हो जावें तब सहन करना ही तप है। घबराना तप का भंग करना है।

२८-५-४६ मंगलवार प्रातः
१५ जेष्ठ २००३ वि० द्वादशी (कृ०)
'मैत्री' करुणा और मुदिता'

योग दर्शन में चित्त की एकाग्रता का एक साधन यह भी आया है कि—

मैत्री करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् १।३३

अर्थात् सुखी लोगों से मित्रता करना, दीन दुखियों पर करुणा करना धर्मात्माओं को देखकर प्रसन्न होना और पापियों से दूर रहना। इससे क्या लाभ? यदि कोई साधक सुखी लोगों से मित्रता बनाता है कि मुझे भी उससे सुख मिलेगा तो यह भावना निकृष्ट है। इस से चित्त चंचल तो रहेगा, एकाग्र न रह सकेगा। मित्रता बनाने में परमार्थ बुद्धि हो कि जो व्यक्ति सुखी है अवश्य उसके पूर्व कर्म पुण्य के हैं क्योंकि सुख धर्म का फल है। तब उसमें पुण्य कर्मों के संस्कार भी विद्यमान हैं। मैं साधना कर रहा हूं तो यह भी पूर्व पुण्य का फल है। इसलिए आपस में मित्रता हो जाने से उसके संस्कार जगेंगे। वह फिर केवल सुख का भोग ही न भोगेगा बल्कि संस्कारों के जागने से उसमें फिर परोपकार बुद्धि आ जायेगी। यदि उसके प्रबल पुण्य होंगे तो मेरी साधना

को उत्साह मिलेगा। यदि मेरे प्रबल पुण्य होंगे तो उस को उत्साह मिलेगा।

पहला—किसी भी सामाजिक कार्य को सफल बनाने के लिए, हम दो शक्तियाँ होकर शीघ्र कर सकेंगे। आपस में प्रेम हो जाने से द्वेष ईर्ष्या का नाश हो जायेगा। दूसरा—दीनों पर करुणा दीन समझकर करने से तो अहंकार उपज सकता है किंतु ऐसा विचार कर लिया जाय—संभव है ये जो अब दीन हैं पूर्व किसी जन्म में हमारे ही सम्बन्धी परिवार के हों। इस से करुणा में अभिमान नहीं रहेगा। बल्कि नम्रता, आर्द्रता आ जाएगी। तीसरा धर्मात्माओं को देखकर प्रसन्न होने से उनकी आशीर्वाद, प्रेम का पात्र बनकर उन से खुली शिक्षा सुधार की मिल सकती है।

——

२९-५-४६ बुधवार ६-५० बजे प्रात:
१६ जेष्ठ २००३ वि. त्रयोदशी (कृ.)
'एक संवाद—प्रभु और भक्त का'

प्रभुदेव ! आप भी सच्चे हो। जिस वस्तु के ग्राहक (इच्छुक) बहुत हो जावें, वह वस्तु सब को कैसे मिल सकती है ? जो सबसे अधिक द्रव्य व्यय करेगा वही ही

प्राप्त कर सकेगा। उपनिषदों में तो सुना था कि, 'नाय मात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन' कि वह प्रभु न बहुत उपदेश करने वालों को न बहुत सुनने वालों को, न तर्कदलीलबाजों को मिलता है वह उसे मिलता है जिसे वह आप (स्वयं) स्वीकार करता है, या चुनता है। अब वेद ने पूरी-२ स्पष्टता कर दी और वास्तविकता प्रकट कर दी है कि वस्तुतः तेरे इच्छुक बहुत हैं इसलिए तू खूब देखभाल करके चयन करता है

यजुर्वेद ३४-१८

१ २ ३
इच्छन्ति त्वासोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति
प्रयांसि।
४ ५
तितिक्षन्तेऽभिशस्ति जनानामिन्द्रत्वदा कश्चन हि प्रकेतः।

वाचक रूप से चाहने वाले तो असंख्य है। कोई गिर्जाघर में झुककर (Kneel Down) होकर तुझे पुकार रहा है, कोई मस्जिद में बार-२ कान को हाथ लगा तोबा तोयब (आगे के लिए पश्चाताप) घुटने टेक, पृथ्वी पर माथा और नाक घिसाकर, हाथ उठा प्रार्थना कर रहा है। कोई घन्टे घड़ियाल बजाबजा उच्च स्वर से और कोई मृदंग, झांझा, बाजे, सितार बजाबजा तुझे रिझा रहा है। कोई माला और पाठस्तोत्र की रट लगा रहा है। विचारे थक-२ के घर चले जाते हैं। तुझ तक सुनवाई भी नहीं होती। इस से अधिक चाहने वाले

(१) सौम्य शान्त स्वभाव, भगवान के मित्र सखा बना कर उसमें प्रीति करते हैं। केवल प्रीति ही नहीं करते अपितु भगवान के सामने शील बन कर जीवन यापन करते हैं।

(२) सोमयाग निष्काम भाव से करने वाले।

(३) अनेक प्रकार का तप पुरुषार्थ करने वाले।

(४) लोगों की निन्दा, आक्षेप, सख्ती, ताना को सहन करते हैं। (क्योंकि प्रभु भक्ति के मार्ग पर चलने वालों की लोग अनेक प्रकार खिल्ली उड़ाते हैं) (घर वाले निकम्मा कामचोर कह कर चिड़ाते हैं किंतु 'त्वदा कश्चन हि प्रकेत:' तुझे बिरला ही जान पाता है। मैं तुझे क्या उलहाना दूं? वेद ने सबकी दशा बता दी। इस लोक में तो तेरा काम करने वाले बहुत हैं किंतु तू चुनता उसे है जो तेरे लोक में जाकर भी तेरा काम कर सकें। इतने में एक प्रेम भरा संवाद चल पड़ा।

प्रभो! यह फिर दुकानदारी सौदागरी वाला लेखा हो गया! तू तो दयालु है। बिना बदले दिया करता है। वीरता तो इसमें है की तू मुझ पतितपापी को अपनी निज दया से तार दे और पार कर दे।

उत्तर—मैं नहीं चाहता कि मेरा कोई भक्त(ग्राहक) मेरे लोक में आकर लज्जित हो। यहां इतना और ऐसा

काम है कि तू अभी उसे समझनें के योग्य नहीं है। क्या तु यही दुःखी है ?

प्र० हाँ प्रभो ! काम क्रोध लोभ मोह अहंकार मत्सर आदि अत्यन्त दुःखदायी हैं। सताते सताते कचू-मर निकाल देते हैं।

तुझे दया नहीं आती कि तेरा आश्रित ऐसी दुःखित अवस्था में पड़ा रहे।

उत्तर—मैं सतावे वाले की खूब खबर लेता हूँ। मेरे भक्त को कौन सता सकता है ? उस(सताने वाले) की अपनी ही खैर (कुशलता) और स्वस्थता नहीं रह सकती।

प्रभो ! तो क्या मैं ऊपर से कह रहा हूं ? तु तो अन्तर्यामी है !

उत्तर—हाँ, इसलिए तो कहा है। जब तुम्हें सताते हैं तब पुकार कर तुरन्त उन्हें भगा देता हूं किंतु जब तेरा मन स्वतः ही रमण करने लग जाय तो मैं तुम्हारे रमण को क्यों (नयन) करू ?

प्रभो ! मैं तेरा आश्रित हूँ। मैं तो नहीं चाहता रमण किंतु क्या करू ? तू इस मन को समझाता भी नहीं।

उत्तर—तू तो नहीं चाहता, यह भी मैं जानता हूं किंतु वह (मन) तुझे घसीट तो ले जाता है। जब तू पुकारता है तो मैं आ जाता हूँ। और वह भाग जाता

है। तेरी शरण लेकर तुझे अपने ऊपर दयालु बना देता है और तू (उसे) क्षमा कर देता है। मुझे शिकायत नहीं करता। मैं व्यर्थ में हस्तक्षेप क्यों करूं?

'प्रभो! तो कब पीछा इससे छूटेगा?'

उत्तर—तू बता, कौन सा सुख है जो मैं तुम्हें यहाँ नहीं दे रहा? कौन सी वस्तु है जो तुमको नहीं मिल रही? तेरा कौन सा संकल्प है जो मैं पूरा नहीं कर देता? फिर तुझे क्यों उतावल है? मेरा काम है भक्तों को प्रकृति से पूर्ण तृप्त करूं। उसे फिर और इच्छा ही न रहे और प्रकृति के पदार्थों से ऊब जाय और सिवा मेरे कोई कामना उसे रहे ही नहीं। निश्चित हो के मेरे लोक में रमण करे। मेरा ऐसा नियम है कि मैं अपने भक्त के भीतर ऐसा उत्साह और ज्ञान उत्पन्न करता हूँ कि सदा उन्नति ही करता रहे। एक निर्धन आश्रय-हीन, जिस पर कोई धेले का भी विश्वास नहीं करता, जो कंगाल और दुर्दशा में होता है, जब मेरा ग्राहक बनता है, मेरा भक्त बन जाता है, मेरी भक्ति करने लग जाता है, तब मैं बड़े बड़े धनियों को उसके पास खींच कर ले जाता हूं। संसार का कोई उत्तम पदार्थ ऐसा नहीं जो उसकी भेंट न कराता हूँ अब उसे जब उत्तम-२ बढ़िया से बढ़िया वस्तुयें मिलेंगी तो वह कैसे क्षुद्र वस्तुओं पर दृष्टि करेगा? यहाँ तक कि मैं राजा महाराजा

सम्राटों को भी उस का सेवक बना देता हूँ जिससे उसे अब यह भान हो जावे कि मैं एक तुच्छ सा व्यक्ति, अभी प्रभु के दर्शन भी नहीं किए, राजा महाराजा चल कर मेरे पास आते हैं। राज्य साम्राज्य इसके सम्मुख कोई वस्तु नहीं है।

इस साधारण भक्ति का यह फल है, तो सच्ची असली भक्ति में पता नहीं क्या कुछ होगा। तब उसका उत्साह बल पर पहुँच जाता है और वह अधिक से अधिक लगन से भक्ति करता है। उसे राजा महाराजा की पदवी की आवश्यकता नहीं रहती।

इसलिए मत घबरा। जितनी उन्नति मैं उचित समझता हूं उतनी में प्रसन्नता व साहस रखना चाहिए। मैं यदि अपने भक्त को गिरा भी देता हूँ तो उसकी उन्नति के लिए। वह उत्साह से फिर अधिक लगन से मेरी ओर लगना चाहता है। एक बार जो मेरी शरण में आ जाता है उस की उन्नति और अवनति मेरे अपने आधीन होती है। केवल उसकी आगामी उन्नति के लिए की कैसे मुझ तक पहुँच सकता है।

मैं धनी के शरीर में तो सामान्य रूप से रहता हूं, विशेष रूप से उस के धन में रहता हूँ। इसलिए उन के धन में शक्ति होती है। और राजा महाराजा के शरीर में भी सामान्य रूप से रहता हूँ परन्तु

उसके शासन में विशेष रूप से रहता हूं। इसलिए उस के शासन में शक्ति है। और भक्त के तो प्रत्येक स्थान, अंग में विशेष रूप से विराजता हूं। उसकी आंख में शक्ति, उस के प्राण में शक्ति, उसकी वाणी में शक्ति, उसके हाथ में वरदान उसके चरणों में आशीर्वाद (नेयमत) बसती है। में राजा के शासन में भय रूप से, धनी के धन में स्वार्थ रूप से, किंतु भक्त के हृदय में प्रेम से बसता हूं।

———

३०-५-४६ बृहस्पति १०-३० बजे दिन
१७ ज्येष्ठ २००३ वि० अमावस

'प्रभु भक्ति सच्ची भूख में रस देती है'

भोजन का रस सही रूप में तब आता है जब खाने वाले को तीव्र भूख लगी होती है। यह सब कोई जानते हैं। उस समय रूखे सूखे में भी बहुत रस आता है। ऐसे प्रभु भक्ति में नाम का रस भी वास्तविक रूप में तभी मिलता है जब तीव्र और सच्ची भूख प्रभु के लिए हृदय में हो। भूख तो हमें अवश्य है किंतु खोटी भूख जिसे कहते हैं वही है। कोई किसी स्वाद के लिए खाता है किंतु भीतर विकार होने से तुरन्त छोड़ देता है।

रस ले ही नहीं सकता। विकृत प्रकृति की विद्यमानत में कहीं हम रस से वंचित रहते हैं।

——

२-६-४६ रविवार २० जेष्ठ २००३ वि० तृतीया (शुक्लपक्ष)

'बुराई धीरे-धीरे जायगी'

भीतर ही भीतर मैं कह रहा हूँ—लोग क्या कहें कि मूर्ख ! हजार दिन का व्रत किया, यदि तू एक-ए मन्त्र भी रोजाना स्मरण कर लेता और मनन कर रहता तो हजार मन्त्र तेरे अपने मित्र बन जाते। ए एक बुराई यदि तू प्रतिदिन त्यागता तो तेरे भीतर हजार बुराईयों का नाश हो जाता। एक-२ गुण यदि तू प्रतिदिन धारण करता तो हजार गुणों का स्वा बन जाता। तूने सारा समय यों ही अज्ञानता में दिया। मैं फिर कहता हूं बात तो सच्ची है किन्तु केव कहने और सुन लेने में, मानने और समझने में आती। बुराई या नेकी, अवगुण या गुण कोई पदा तो नहीं कि उसे हाथ से उठाया और फेंक दिया। हाथ से उठाया और सन्दूक में रख दिया। अवगुण मन, चित्त से चिपकी हुई बला है। उसे उखाड़ने में भारी ज्ञान की आवश्यकता है। और दीर्घ समय माँ

है। मन्त्र का विचार या मनन भी तो आसान काम नहीं। प्रभु कृपा हो जाय तो मन्त्र के शब्द स्वतः ही अपना स्वरूप भान कराने लग जावे हैं अन्यथा मनन भी किस बल पर किया जावे। न विद्या न तप। आवश्यकता पड़ती है कभी एक मन्त्र को जो सरल मालूम होता है, विचारने पर रस नहीं आता। कभी कठिन मन्त्र भी अपने आप मन लुभाने लग जाता है और तुरन्त स्मरण हो जाता है। मैं कहूं कि मैं यह हो जाऊं, वह हो जाऊं! यह तो अपने वश की बात नहीं। कारीगर एक बन्दूक बनाता है जो २०० (दो सौ) गज पर मार करती है। एक बन्दूक ऐसी बनाता है जो १० (दस) गज से आगे नहीं जाती। आकृति दोनों की एक जैसी। बनाने वाला कारीगर एक। एक इंजिनियर ने पुल बनाया कि यह ५० (पचास) वर्ष स्थिर रहेगा दूसरे के लिये लिखा की यह १० (दस) वर्ष से अधिक न चलेगा। एक गाड़ी इतना भार उठायेगी या एक इंजन इतना भार ले जा सकेगा। ऐसे ही परमात्मा देव ने बाहर की आकृतियां तो मनुष्यों की सबकी एक समान बनाई है किंतु भीतर के पुर्जों में ग्रहण शक्ति न्यूनाधिक कर्मानुसार रखी है। उस शक्ति के अनुसार ही प्रत्येक मनुष्य उतना ही उन्नत होता है और कार्य कर सकता है। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान ऋषि के समय में थे किन्तु

उनकी समझ में बात बताने पर, युक्ति और वेदशास्त्र से दिखाने पर भी समझ में नहीं बैठी। किन्तु ऋषि जब बालक थे, देखने मात्र से काया पलट गई। न बहुत ज्ञान न विद्या, न तर्क युक्ति देना जानते थे किन्तु बुद्धि का पुर्जा निराला था। उसी पुर्जे और आंख के मेल से प्रभु स्वयं भान करा रहे थे। ऋषि में तो जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त पाप या बुराई नहीं हुई और हम आसानी से एक भी बुराई का त्याग नहीं कर सकते। तुम तो कहते हो कि एक-एक बुराई का प्रतिदिन त्याग करते किन्तु मुझे आश्चर्य होता है कि जो कमी मालूम होती है उस कमी को दूर कर सकना तो दूर रहा, वह कमी कम भी नहीं होने पाती अपितु कमी में भी वृद्धि होने लग जाती है। एक सुघड़ मां तो एक बेसन के अनेक रूप से खाद्य पदार्थ बनाकर उपस्थित करती है, किन्तु यह ओघड़ मन एक बुराई या पाप या विषय को अनेक रूप से उपस्थित करता है। अब एक बुराई का एक ही रूप हो तो वह एक दिन में भगाया जावे। जिसके रूप ही अनेक हों वह भला कैसे एक दिन में निकल सकेगी।

——

७-६-४६ शुक्रवार प्रातः
२५जेष्ठ२००३ वि० अष्टमी (शु.)

'भावुक और यथार्थी'

भावुक मनुष्य तो बहुत हैं, यथार्थी कोई-कोई। भावुक में दया स्पर्श करती है और यथार्थी में दया के साथ करुणा। एक व्यक्ति ने किसी दरिद्र की दुःख भरी कहानी पढ़ी या सुनी तो नेत्रों से अश्रु बहने लगे। और जब कोई दीन दुखी दरिद्र सचमुच सामने आ गया तो उस समय उसकी जूं तक न रेंगी। इसे कोरा (केवल) भावुक कहते है। जिसने अपने सामने दीन दुःखी को देखकर तुरन्त सहायता भी की वह यथार्थी मनुष्य है। भावुक का हृदय और यथार्थी का हृदय और हाथ प्रभावित होते हैं। भावुक केवल कान रखता है, यथार्थी आंख भी साथ रखता है।

(२)

एक व्यक्ति तो ऐसे हैं जो समूह के लाभार्थ तो बहुत सा धन दान दे देते हैं, कुछ भी नहीं हिचकिचाते किन्तु किसी एक दीनदरिद्र प्राणी की आवश्यकता पूरी करने से संकुचित से हो जाते हैं। इनमें कामना है करुणा नहीं।

(३)

एक व्यक्ति ऐसे हैं जो समूह में लोगों की विद्यमानता में तो तप और भक्ति और कष्ट का सहन अधिक से अधिक कर सकते हैं, किन्तु एकान्त में जब कोई देखने वाला न हो तो उसमें आलस्य, प्रमाद और आराम तलबी आ जाती है। तप आदि करना भी चाहें तो कर नहीं सकते। इनमें लोकैषणा होती है। उत्साह, आत्मिक बल नहीं होता।

(४)

जो मनुष्य स्वार्थवश सेवा, भक्ति, दान, पुण्य, यज्ञ और तप करते हैं वे अपना गवाह अवश्य बनाते हैं। बिना गवाह बनाये उन में कार्य करने में उत्साह ही उत्पन्न नही होता औरजो निःस्वार्थ करते हैं उनमें उत्साह प्रभु भरता रहता है। निःस्वार्थी मनुष्य एक क्षण भी उत्साह से खाली नहीं रहता।

(५)

युक्ति से श्रेय (Credit) लेना किन्तु उसमें एक अवगुण ऐसा भी होता है जो दूसरे की सेवा पुण्य का क्रेडिट (श्रेय) भी आप लेना चाहता है और असत्य से

भी डरता है तो वह अपनी कामना को पूरा करने के लिए युक्ति से काम लिया करता है।

उदाहरण—किसी श्रद्धालु ने कोई वस्तु किसी सन्त या विद्वान् को भेजी और किसी परलोक आशायी स्वार्थी के द्वारा पहुंचाई। पहुंचाने वाले ने कई और वस्तुयें स्वयं क्रय करके उस श्रद्धालु की वस्तु को भी साथ रखकर सन्त के पास भेंट करते ही किसी बहाने से आप तुरन्त चला गया। सन्त ने तो सब सामग्री श्रद्धालु की ही समझी थी। वह वस्तु विशेष थी। संत ने इस लाने वाले को बहुत-२ आशीर्वाद दी। दिन में जब वह आया तो कहा महाराज! अमुक वस्तु आपके अमुक भक्त ने भेजी थी। अब इससे कामना भी पूरी हो गई और सत्य भी प्रकट कर दिया क्योंकि यह कामना एक अवगुण है। इसलिए उस का फल भी उसे बुरा मिलेगा। अर्थात् उस की अच्छाई का भी लोक में विश्वास कम होगा।



८-६-४६ शनिवार १०-३० प्रातः
६ जेष्ठ २००३ वि. नवमी (शु.)
'संयमपूर्वक भोग ही ठीक हैं'

मैं विचारता था और चकित होता था कि दूध तो

न पचा अब लस्सी भी नहीं पचती। जहाँ दिन में कई बार और रात तक भी लस्सी पीता था, चाटी (मटकी भरी) पी जाता था। क्या कारण? क्या आमाशय ऐसा निर्बल हो गया है? आज इस समय प्रभु की कृपा से भेद मालूम हो गया।

प्रत्येक मनुष्य का भोग पूर्व कर्मानुसार निश्चित है। भोग में सुख और दुःख होता है। सुख और दुःख का भोग इन्द्रियों, शरीर और मन द्वारा होता है। उपस्थ इन्द्रिय और प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-२ भोग है। जब भोग निश्चित है तो प्रत्येक इन्द्रिय का भी निश्चित है कि मनुष्य अपनी आयु में अपने कर्म अनुसार आंख से कितना रूप देखे, कान से कितना सुनें, नाक से कितनी वायु और सुगन्ध लेवे, जिह्वा से कितना और किस प्रकार का रस आस्वादन करे, इत्यादि। कितना अन्न (कितने प्रकार का अन्न) कितना जल, कितना दूध, कितना घी, सब्जी, फल, मेवा, लस्सी, ठण्डाई (सरदाई) इत्यादि-२ सेवन करे। जिन लोगों ने अपने निश्चित भोग का उपयोग पहली आयु में अधिक कर लिया, जिस वस्तु का उन्हीं के लिए निश्चित था, तो फिर अगली आयु वह वस्तु उतनी नहीं पच सकती। जिन्होंने आंख का भोग

अधिक कर लिया वे नेत्रहीन हो गये। शेष आयु में बेचारे प्रकाश से वंचित रहते हैं। ऐसे ही कान सुनवे से जवाब दे देते हैं और आमाशय कुछ स्वीकार नहीं करता। और हम अज्ञान से पाचन शक्ति बढ़ावे केलिए यत्न करते रहते हैं किंतु व्यर्थ है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा—प्रत्येक इन्द्रिय का भोग संयम से करना चाहिए।

किनके लिए जो पदार्थ भोग में निश्चित नहीं हुए उनको वे प्राप्त नहीं होते। यहां तक कि उनके नाम से भी अपरिचित रहते हैं और यदि जानते भी हैं तो रूचि नहीं होती। कोई हठात् खिला भी देवे तो पचते नहीं। मैंने देखा जो यौवन में दूध का सारा घड़ा मुख लगाकर पी जाते थे पीछे उनको प्राप्त नहीं हुआ। या एक सेर भर भी पचा नहीं सके। प्रकृति माता सब प्रकार के भोग्य खाद्यपदार्थ बहुतायत से रखती है किंतु जिन शरीरों की वह माता है उन शरीरों के भोग को जानती है इसलिए निश्चित से अधिक नहीं देती। यदि कोई बलात् ले लेवे, जैसे बच्चा मां को मारीट करके भी लेलेता है, या चुरा लेता है तो फिर शरीर के भीतर जो प्रकृति माता का अंश साक्षी है वह स्वीकार नहीं होने देता, पचने नहीं देता। मल(दस्त)के रूप में, वमन के रूप में तुरन्त बाहर निकाल देता है। क्योंकि बाहर

के सब देवताओं के अंश इस शरीर में रहते हैं। वही अंश आत्मा और भोग को घठित रखने वाले हैं। आंख खुली हुई है, मन चाहता है प्रकाश को देखूं (किंतु आंख का) भोग समाप्त हो जाने से, वह अंश ज्योति का जो सूर्य की ओरसे आँख में है, प्रकाश को आत्मा तक नहीं पहुंचने देता। कितने व्यक्ति हैं जिन्होंने आंख बनवाई, दो दो बार, तीन तीन बार किन्तु प्रकाश के भोग से वंचित रहे। हाँ हमको यह ज्ञान नहीं कि कितने श्वास, कितना प्रकाश, कितने शब्द हमारे भोग में हैं किंतु जो कार्यक्रम शास्त्रों ने हमारे लिए बताया है, उसके अनुसार हम चलें तो सौ वर्ष तक या आयु पर्यन्त आंख नाक कान जिह्वा आमाशय शरीरके सब भोग भोग सकें।

कुछ लोग यौवन में खूब व्यायाम कर के बहुत खाद्य पचा लेते हैं। वे मत समझें कि हमने बहुत नहीं खाया निश्चित से अधिक नहीं खाया। उन्हें अनिवार्य-रूप से बुढ़ापे में कम खाना पड़ेगा, अपच की शिकायत इनको भी रहेगी। ऐसे भी मैंने देखे जो यौवन में ५०० १००० दण्ड प्रतिदिन निकालते थे। खूब खा सकते थे किंतु बुढ़ापे में शरीर तो दृढ़ है किन्तु खाद्य नहीं ले सकता। 'दाना दाना पर मोहर' की कहावत प्रसिद्ध है।

९-६-४६ रविवार ८-३० प्रातः

२७ जेष्ठ २००३ वि. दशमी (शु.)

'साधक ! संभल कर कदम रख !'

प्रश्न—क्या किसी को शरीर का भोग मुफ्त भी मिलता है ?

उत्तर—नहीं। संसार में दान आदान का नियम काम करता है। कई पूर्व जन्म का ऋण उठाते हैं। कई इस जन्म में ऋण उठाते हैं। अगले जन्म में चुकायेंगे और हाथोंहाथ (=ताजा) लेते देते हैं।

इन सबका साक्षी (=जामिन) गुप्त रुप से सविता देव भगवान रहते हैं। पहले का तो सब कोई जानता ही है। दूसरे वे भिखारी हैं जो प्रतिग्रह माँगकर निर्वाह करते हैं। अगले जन्म पशु बनकर ऋण चुकायेंगे। तीसरे वे हैं जो अपना पुण्य बेचकर किंतु आदर से निर्वाह करते हैं। गृहस्थी अपने शरीर की कमाई से देता है और उस के स्थान में उसे परोपकारी पुण्यात्माओं का पुण्य मिलता है। जब तक कोई मनुष्य विद्वान् संन्यासी या विरक्ती त्यागी संसार का काम निष्काम भाव से नहीं करता तब तक वह अपने पुण्य कार्य को मानो बेचकर ही खाता

है। निष्काम कर्म वही कर सकता है जिसे ज्ञान और वैराग्य हो गया है। उसका कर्म और कर्मफल से कोई लगाव नहीं होता। वह मुक्ति को पाता है। शेष हम जैसे लोगों का निष्काम कर्म ही निष्काम नहीं समझा जाता।

अथर्वेद काण्ड ७ में मन्त्र आया कि संसार कल्याणार्थ प्रचार व काम करने वालों को घी आदि तोलकर खाना चाहिए। विद्वानों, सन्तों, महात्माओं को योगीजनों को, गृहस्थी लोग प्रायः निमन्त्रित करते हैं—अपने घरों में और श्रद्धा से उत्तम से उत्तम अनेक स्निग्ध पदार्थ बनाते हैं। अधिकाधिक पुण्य खरीदने के लिए। त्यागी, विरक्ती मनुष्य, विद्वान् या संत जिसने सबकुछ त्याग दिया रसना इन्द्रिय उसे बाँधे रखती है। जिस वाणी से वह पुण्य का काम, पुण्य की कमाई करता है, जो उसको जन्म-जन्मान्तर के तप और भक्ति के प्रताप से वाणीरस मधुरता, वक्तृताशक्ति प्राप्त हुई है, जिससे बड़े-बड़े अमीर, राजा-महाराजा और कठोर हृदय भी पिघल जाते और इस विद्वान् सन्त की वाणी से बंध जाते हैं। वही लोग हाथ पैर की मैल (कमाई) के कतिपय ठीकरों से उसे स्वादु पदार्थों से बांध लेते हैं। अपना अमूल्य पुण्य

कौड़ियों में बेच बैठता है। इसलिए वेद भगवान् ने उसे सावधान किया है, मन्त्र द्वारा कि वह घी तोलकर खाये अर्थात् दूसरे के पदार्थ को बहुत सावधानी से आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करे, जिससे कि, जिसे गृहस्थी अपनी सारी कमाई नहीं देता, अंश मात्र देता है, ऐसे उसका पुण्य भी अंश मात्र बदले में जाए अन्यथा कोरे हाथ जाना पड़ेगा। फिर वाणी में रस न रहेगा क्योंकि यहां रस ले लिया तो तप का त्याग किया। रस के त्याग से तप का ग्रहण बन जाता है और रस के ग्रहण से तप का त्याग हो जाता है। उन साधु-सन्तों त्यागियों को बहुत घाटा रहता है जिनका संसर्ग प्रायः गृहस्थियों से होता है और बहुदा पदार्थों को ग्रहण करते हुए सावधानी नहीं करते औरसाधारण बात समझ लेते हैं। उनका शरीर निर्वाह प्रायः गृहस्थियों की भांति न्यून अधिक रहता है। गृहस्थियों में संयम और सावधानी से रहने वाला साधु जिसे अपने परलोक जन्म का ध्यान है वह बचा रह सकता है। अपने पुण्य का उत्तम वा मध्यम भाग बचाये रखता है। निकृष्ट भाग जीवन निर्वाह के बदले में देता है जिस का फल धनधान्य, सम्पत्ति, वैभव होता है और वही गृहस्थी को चाहिए ही जो साधु लोग (Aloof) अनासक्त रहते हैं उनका जीवन ही तप के सिवाय और कुछ नहीं अर्थात् तपोमूर्ति होते हैं।

इसका उदाहरण शरीर से पूरा ठीक उतरता है। प्रभु ने इस शरीर को बाह्यमुखी बनाया है। एक मनुष्य जो प्रतिदिन आधा सेर अन्न पेट में डालता है, सब्जी, फल दूध भी, पानी भी पीता है। ये सब माचो उसके शरीर की आमदनी है। ऐसा व्यक्ति एक महीने में पन्द्रह सेर, वर्ष में साढ़े चार मन और पचास वर्ष में दो सौ पच्चीस मन केवल अन्न ग्रहण करता है। अन्य पदार्थ अतिरिक्त। किन्तु प्रकृति का नियम ऐसा है कि ५० वर्ष की आयु में उसे यदि तोला जाय तो दो ढाई मन होगा। अर्थात् शेष दो सौ बाईस मन सब अपने आप निकल गया। उसका नहीं बना। कुछ आंख से, कुछ नाक से, कुछ कान से, कुछ गुदा से, मूत्रेन्द्रिय और शरीर से प्रतिदिन निकलता रहा। ऐसे ही पारमार्थिक कार्य करने वालों के पुण्य कुछ [१] यश के लोभ में, कुछ [२] धन के लोभ में, कुछ [३] रसना इन्द्रिय के लोभ में, कुछ [४] शरीर को आराम देने के मोह में बिक जाते या निकल जाते हैं। एक शरीर के मोह से आराम देने के लिए कितना आसान संग्रह हो जाता है। कुर्सियां न सही, पलीचे और भिन्न-२ प्रकार के आसन, मेज न सही चौकियां, विभिन्न प्रकार के पलंग न सही, बढ़िया तख्त और बिछौने ओढ़ने की कहां

कमी रहती है। इसलिए बहुत कम हिस्सा पुण्य का शेष रह जाता है। जैसे शरीर का भार मात्र शेष रह गया।

नवम्बर १९३० में जब मैं अफ्रीका से वापिस (अपने देश) आया तो एक सज्जन प्रेमी मि० एल. डी. व्यास ने अमरेली (काठियावाड़) अपने घर बुलाया जब वे अफ्रीका से अवकाश पर आये। अप्रैल मई १९३१ का समय था। अमरेली मुख्य राज मन्दिर में उपदेश करता रहा। एक ग्राम के एक किसान सज्जन एक दिन आये मेरा मन सुनकर उनमें अपने ग्राम (मुझे) ले जाने की श्रद्धा उत्पन्न हुई। बहुत श्रद्धा प्रेम से आग्रह करके और अमरेली के सज्जनों से दबाव दिलाकर मुझे अपने ग्राम ले गये। गर्मी के मौसम में सांय ही चलना था। चले—'पूरा तो स्मरण नहीं किंतु ५-७ मील की दूरी लगभग होगी।' पहुंच गये। घर में एक ही स्त्री थी। उसकी माँ या स्त्री थी। रात्रि को जो भोजन बना हुआ था वही उस देवी द्वारा परोसकर चबूतरे पर मेरे पास ले आया। चावलों का भात और खट्टी इमली भिगोई हुई भात के साथ खाने के लिए मेरे पास रख दी। मैंने समझा अब रात्रि का समय है। जो कुछ बना हुआ था सो ठीक है और बनाने में देरी हो जाती। मैंने खाया। सोने के लिए कोई स्थान न था। घर के द्वार पर बैल-गड्डा उसका खड़ा था। मैं चूंकि चारपाई पर न सोया

करता था और तख्त का प्रबन्ध उस समय न हो सकता था। मुझे कहा इस पर सो जावें। मैं सो गया किंतु ग्राम की गलियों में स्वच्छता का नाम नहीं होता। मच्छरों ने खूब गत बनाई। इधर-उधर मकानों, मोहल्लों की ऊंची दीवारों ने पवन बिल्कुल रोक रखी थी। मैं बहुत व्याकुल हुआ। सामने एक बनिया सेठ का घर था। उस किसान ने उसे जगाया। वे सब अपनी हवेली के सामने सोये हुए थे। मैंने भूमि पर स्थान बनाया किन्तु वहां भी पवन रुकी हुई थी। फर्श तपा हुआ था। ज्यों त्यों रात्रि बीत गई। सेठ भी चारपाई पर पंखे से रात्रि बिता रहा था। प्रातःकाल हुआ। हवन यज्ञ किया गया और वार्तालाप सत्संग भी, वहां वही किसान ही केवल आर्यसमाजी था। अन्य कोई आर्यसमाजी विचार का न था। उस बेचारे की लगन थी कि कोई अन्य भी समान विचारों का बन जावे तो समाज बना लूं। मुझे राजमन्दिर में सुना तो सब लोग सनातनी थे और उनसे भी (मेरी) प्रशंसा सुनी कि यह महात्मा किसी का खण्डन नहीं करते। धर्म की बातें बताते हैं। इस विचार से वह ले गया था। दोपहर का समय हुआ, घर में ले गया। उस देवी ने भोजन परोस दिया। बाजरे की रोटी और साथ में भिगोई हुई खट्टी इमली।

उस में कुछ थोड़ा गुड़ मीठा पड़ा हुआ। अब तो मैं चकित रह गया कि गर्मी का मौसम और बाजरा की रोटी और न कोई सब्जी या दाल। वही खट्टी इमली। मैं मन में बहुत कुढा। खाने को तो खा गया किंतु खाते समय विचित्र दशा रही। मैंने उसे कहा, भले लोक! यदि आप में इतना सामर्थ्य न था तो मुझे काहे को यहां लाये? मैं ऐसे कितने दिन रह कर प्रचार कर सकूंगा? उसने कहा महात्मा जी, हमारे पास तो यही कुछ है। हम दिन रात इसी पर निर्वाह करते हैं। उस के मन में मेरे प्रति जो भाव उत्पन्न हुये होंगे वह वही जाने या प्रभु किंतु उस समय मैं यह अनुमान न करता था कि उस के भीतर भी मेरे प्रति कोई बुरा भाव उत्पन्न होगा जो आज अनुमान कर रहा हूँ। वह मुझे बाहर खेतों में ले गया। बिलकुल उजाड़ शून्य भूमि पड़ी थी। पानी का नाम न था गाय बैल अस्थिपिंजर दृष्टि आते थे किसानों के वस्त्र फटे, चीथड़े, आंखों में आंसू लाते थे। मैं उसी दिन वापिस अमरेली सांय चला गया चौदह पन्द्रह वर्ष तक मुझे कभी उस घटना का विचार नहीं आया। इस व्रत में मुझे कई बार वह दृश्य सामने आता रहा कि मेरी कितनी मूर्खता थी। वह समय भी था जब कि प्याज काटे हुए नमक मिर्च लगाकर खाने में बड़ा स्वाद आता था। नमक मिर्च

पानी में घोलकर भी रोटी से खाया बहुत स्वाद आता था किंतु तब गरीबी यतीमी (निर्धनता और निराश्रयता) का समय था। अब तुझे यह खाना पसन्द न आया। परमात्मा के दरबार में तू क्या उत्तर देगा। निर्धनता का भोजन दाल-रोटी, साग-ढोढा और इस से भी अत्याधिक निर्धनता का खाना प्याज और रोटी गिनी जाती है और असंख्य लोग ऐसा समय व्यतीत कर रहे हैं। तू अपनी पिछली बीती को भी स्मरण न रख सका कि तुझे अब बहुत अमीराना खाने उपलब्ध होते हैं। पिछले दिनों शिवरात्रि अंक में भी ग्राम प्रचार के लिए पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का लेख पढ़ा था। उस दिन भी मुझे वह घटना सामने आ गई और आज भी फिर भीतर से लज्जा प्रतीत हुई कि बस स्मरण ही करता रहा। उसका प्रायश्चित तो नहीं किया। कई प्रायश्चित मुझे सूझे किंतु अन्त में भोजन के समय से थोड़ा पूर्व यह सूझा कि मुझे एक महीना लगातार सब्जी के स्थान पर खट्टी इमली भिगोकर उसमें थोड़ा मीठा गुड़ या शक्कर या चीनी, जो लाला गंगाराम जी उचित, हितकर समझें, उसी से रोटी खाता रहूं। एक आषाढ़ से उसका प्रयोग किया जाय। वह समय तो बीत गया। उस बिचारे पवित्र किसान की सेवा तो नहीं

हो सकती, न उसके भावों को बदल सकता हूं, न ग्राम का नाम स्मरण है, न उस सज्जन का, न उसकी आकृति स्मरण है, केवल लम्बा सा कद (बोता) याद है (यदि वह जीवित हो) किंतु अपने लिए तो मार्ग खुल जाएगा आगामी समय के लिए। यह भी विचार आया—यदि अनुकूल न बैठे तो प्याज से भी निर्वाह किया जाय। अब तो मुझे प्रसन्नता हो रही है ऐसा प्रायश्चित करने से। मैं अब उस गृहस्थी और अपने तप त्याग की तुलना करता हूं। तो मुझे अपने भेष, आश्रम और जीवन पर लज्जा आती है। क्या हुआ जो मैंने बिना पैसे लिए प्रचार किया? जब मैं इस त्याग से, तप न कर सकने से अपना मिशन, धर्म प्रचार को पूरा न कर सका। वह बेचारा असमर्थ है, खाने की यह दशा है किंतु धर्म भाव में कितनी लगन है कि वह नम्र आग्रह करके, दूसरों से सिफारिश कराके (मुझे) ले जाता है। अपना पेट काटकर ही मुझे खिलाता रहता है जितने दिन मैं वहां प्रचार करता। उस रात भी संभव है उसको खाने को न मिला हो और अपना भोजन मेरे अर्पण किया हो। उसके त्याग में तप है कि वह अपना भूखा रहना, या कम खाना, या उसी अपनी घर की साधारण सम्पत्ति में सहन करना और धर्म प्रचार को प्रथम समझता।

यह होता है सच्चा त्याग। मेरा त्याग तो निर्जीव था जो आत्मा (तप) से रहित था और वह सद्गृहस्थी शरीर और आत्मा दोनों के साथ था। आज मेरा सिर उस महाशय के लिए झुक रहा है।

——

२१–६–४६ मंगलवार ५–१५
२८ जेष्ठ २००३ वि० द्वादशी (शु०)

'करले, धरले, भरले'

वाह रे मन ! बिचारे रवि और शशि, मंगल और शनि, बुध और शुक्र, और यहां तक कि बृहस्पति से देवताओं ने तेरे लिए हजारों चक्कर काटे, पर तू नहीं समझा, नहीं समझा ! प्रभु ने भी बड़े-२ रिफार्मर (सुधारक) भेजे तेरे लिए, किंतु तू न समझा, न समझा। सोसाइटियों ने बड़े रसीले भजनीकों और विद्वान उपदेशकों को तेरे पीछे लगाया, किंतु धन्य है तू कि उनकी भी एक न सुनी ! वाह-२ करके टाल दिया ! ऋषि-मुनियों की तपस्याओं से लिखे ग्रन्थ तूने बांचे, किंतु तुझे जूं तक न रेंगी। तुझे प्रभु ने कीड़े मकोड़े की योनि में भेजा, हाथी, कुत्ता और शूकर बनाया, कौआ, गिद्ध और

चील का चोला पहनाया, किंतु तुझे फिर भी लज्जा न आई। अब भी तुझे मनुष्य जैसा हीरा जन्म प्रदान किया कि शायद तू थक गया हो और(=मुझे)ज्ञान हो जाय। यह अनमोल जन्म अबके न गंवा। कुछ करले ! कुछ धरले और कुछ भरले। ये तीनों आशायें इसी मनुष्य देह में पूरी हो सकती हैं। ऐसा करेगा तो सब प्राणी तुझे आदर देंगे। परमात्म देव की आशीर्वाद और प्रसाद जो प्राप्त करके स्वतन्त्र हो जावेगा।

——

१४–६–४६ शुक्रवार ९–३० प्रातः
१ आषाढ़ २००३ वि० पूर्णमासी

'पति-पत्नि का सम्बन्ध कैसे' ?

मुझे कई दिनों से विचार उपजा कि स्त्री और पुरुष का संबंध कैसे बनता होगा ? और एक जन्म का पुरुष कभी दूसरे जन्म में स्त्री की योनि में कैसे जाता होगा। भिन्न-१ कर्मों और संस्कारों में वृत्ति का संयम करता रहा। अब इस समय प्रभुकृपा से समाधान मिल गया। (१) स्त्री का नाम धर्मपत्नि शास्त्रों ने रखा। अफआवश्यक है कि पति और पत्नि का मेल या, पुरुष-

स्त्री का मेल सम्बन्ध में धर्म-कार्य ही कारण होना चाहिए। जिस धर्म-कार्य में किसी जन्म में दो मनुष्यों का एक मन (विचार उद्देश्य) हो, किन्तु उनमें शक्ति का भेद अर्थात् एक में उस विचार को पूरा करने के लिए धन तो हो किंतु तन से वह पूरी सहायता न कर सकता हो और धन न्योछावर करने के लिए अग्रसर हो और दूसरे मनुष्य में धन की शक्ति न हो किन्तु तन अर्पण करने में तैयार हो तो इन मनुष्यों का अपनी-२ शक्ति के द्वारा उस धर्म-कार्य में एक होकर उसे करना है। यह मेल उनमें हार्दिक स्नेह और प्रेम को उत्पन्न करता है। दोनों में त्याग है, दोनों में प्रेम है। एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए।

वे अपने-२ स्थान पर पूर्ण नहीं हैं—आधे-२ हैं। किंतु मिल जाने पर पूर्ण, एक प्राण हो जाते हैं। अब उस धर्म-कार्य का फल, उन दोनों को ऐसा इकट्ठा ही मिलता है जिसमें बिभाजन या बटवारा न हो सके। दोनों ही उस फल को अपना-२ पूरा समझें। तो फिर उनका जन्म और मेल आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष के रूप में, पति धर्मपत्नि के रूप में। वह अर्यमा सविता देव प्रभु जोड़े। धनवाला पुरुष और तनवाला स्त्री की योनि को प्राप्त होगा।

(२) ऐसे दो मनुष्य जिस जन्म में किसी धर्मकार्य के पूरा करने में संगठित हुये, कुछ समय दोनों में ठीक मेल मति का रहा किंतु पीछे किसी कारण से धन वाले का तन वाले से मतभेद हो गया। अब उद्देश्य और कर्म तो दोनों का एक है, किन्तु विचार नहीं मिलते। तन वाले की शक्ति प्रबल है। धन वाले को काम तो वही अवश्य करना है, उसे छोड़ने को मन नहीं चाहता कि निन्दा होगी और दूसरे तन वाले का मिलना कठिन या ढूंढने का साहस नहीं। उसे आयु पर्यन्त नाम के लिए धन से सहायता करनी पड़ती है। विचार मतभेद होते हुए भी अब इनका मेल किसी अन्य जन्म में पति-पत्नि के रूप में हो जाने पर कुछ समय प्रेम से गृहस्थ को स्वर्ग बनाये रखेंगे, किंतु पीछे एक दूसरे का स्वभाव न मिलेगा और अशान्ति बनी रहेगी तथापि गृहस्थ पूर्ण भोगते रहेंगे।

(३) उपर्युक्त दो मनुष्यों में जब एक में विचार भेद हो गया तो उसने साथ छोड़ दिया। उदाहरण(क) धन वाले ने तन वाले का साथ छोड़ दिया और अपने उद्देश्य की लगन है। उसे पूरा करने के लिए और नया आरम्भ कर दिया। किसी और दूसरे तन वाले एक विचार (वाले) को ढूंढकर।

(ख) परन्तु पहला तनवाला बराबर चलाये कार्य को चालू रखता है। उतनी ही सामर्थ्य सम्पत्ति से, जो धनवाले साथी से चलती रही थी।

(ग) या पहला तनवाला कार्य को पूरा करने के लिए दौड़ धूप करके धन वालों से धन की सहायता भी लेकर चलता रहता है। (घ) पहला धनवाला तनवाले से मतभेद होनें से उसे भी छोड़ देता है और काम को भी छोड़ देता है और आरम्भ नहीं करता। (ङ) या धन वाला प्रबल होने से मतभेद पर तनवाले को अलग या हटा देता है और उसी अपने चलाये कार्य में किसी दूसरे तन की शक्ति को सम्मिलित करता है। इन सब का फल पति-पत्नि के मेल में आयु का वियोग होता है। 'क' में सौतिन का आगमन। प्रथम स्त्री के होते हुये उससे अलग हो जाना, दूसरा विवाह कर लेना। (ख) पति का वियोग पति का उसकी उसी सम्पत्ति का मालिक रहकर निर्वाह करना निस्सन्तान। 'ग' पति का वियोग किंतु सन्तान का होना। उसकी कमाई से अधिक निर्वाह होना। 'घ' पति का वियोग। 'ङ' पत्नि का वियोग अपने सामने जीते जी।

(४) पति-पत्नि सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक नहीं कि दोनों एक स्थान पर मिलकर काम करते थे। अपितु जो एक भांति का धर्म कार्य जहां-२ भी होता है और वहां के कार्य करने वालों में धन और तन की जो शक्ति है उन दो शक्तियों का मेल अलग स्थानों से अलग अलग आत्माओं से हो सकता है। (५) यह सम्बन्ध तीव्र चाह से भी हो सकता है— जैसे कि 'क' पुरुष है 'ख' स्त्री। उनका विवाह इस जन्म में अलग-२ जोड़े से है किंतु किसी विशेषता से 'क' और ख' का प्रेम स्नेह हार्दिक हो जाता है। दोनों में चाह रहती है किंतु धर्म और शास्त्र बाधक हैं। वे दोनों धर्म शास्त्र के बंधे हुये और आस्तिक हैं। कभी इस चाह को अमर्यादित रूप नहीं दिया, न ही देना चाहा किन्तु प्रबल कामना के संस्कार तीव्र बनते गये तो किसी को अगले जन्म में 'क' पुरुष के रूप में और 'ख' स्त्री के रूप में धर्ममर्यादानुसार उनका विवाह होगा और पति धर्मपत्नि का सम्बन्ध होगा तथापि आयु उनकी अपने-२ कर्म अनुसार होगी। भोग भी अर्थात् दुःख सुख तो अपने-२ कर्म अनुसार किन्तु सम्पत्ति उनमें से जिसके कर्म प्रबल होंगे उस

उस पर निर्भर रहेंगे। सन्तान का होना भी आवश्यक नहीं। इस विशेषता में कामना पवित्र और अपवित्र दोनों हो सकती है। यदि शारीरिक सौन्दर्य विशेषता है तो कामना अपवित्र। इसमें सन्तान का अभाव रहेगा यदि शुभ कर्मों की रुचि की विशेषता है तो कामना पवित्र। इसमें दोनों का जन्म अगला उन्नत धार्मिक और कई जन्मों तक सम्बन्ध रहने वाला होगा। (६) जब एक पक्ष की अपवित्र चाह तन के सौन्दर्य के कारण होती है तो वह कल्पनाओं में या स्वप्न में अपनी चाह को सूक्ष्म शरीर द्वारा पूरा कर पाता है और किसी अगले जन्म में सम्बन्ध नहीं होगा। (७) अब यह प्रश्न होता है कि आजकल के विवाहों के सम्बन्ध में बहुत से जोड़ों में धर्मपुण्य संस्कार नहीं होते या कहीं पुरुष में हैं तो स्त्री मूढ़, या स्त्री धर्मपरायण है तो पुरुष उजड्ड। जब यह है धर्म कार्य का कारण और वह भी साझे में किये के कारण है तो फिर क्या कारण ? इसका उत्तर यह है कि यदि पिछले तुरन्त के जन्म के सम्बन्ध से सम्बन्ध हो, या पिछले कई जन्मों में संस्कार और कर्म शुभ होते रहे हों और मनुष्य जन्म बराबर मिलता रहा हो तो दोनों में संस्कार मौजूद होंगे। चूंकि जन्म-

जन्मान्तरों का कर्म था और मध्य में अन्य जन्म-योनियां भोगते रहे, या मनुष्य जन्म में भी अन्य कार्य वा संस्कार बनते रहे। अब वे संस्कार दब चुके हुये हैं और दूसरे संस्कार प्रबल होते हैं अतः विपरीत प्रतीत होता है। अन्यथा मनुष्य जन्म है तो पुण्य और पाप कर्मों के बराबर, या पुण्य अधिक होने का फल, तो वही पुण्य कार्य दोनों स्त्री पुरुष के जन्म-जन्मान्तर के भी होते हैं। एक व्यक्ति (जीव) के जन्म-जन्मान्तरों के कारण अनेक व्यक्तियों (जीवों) से संबंध होता है इसलिए बारी-२ से किसी जन्म में मेल नहीं बनता है। उदाहरण—मेरी धर्म पत्नि को मरे हुये सत्ताईस वर्ष होने वाले हैं। उस ने तो जन्म ले लिया होगा और मेरे साथ अभी उसका संबंध शेष रह गया हो तो पता नहीं मेरे मरने तक उस का तो बुढ़ापा होगा और मेरा बालकपन। अर्थात् कई जन्मों का संबंध होने में अन्तर पड़ जायगा और तब तक अन्य अन्य संबंध भुगतते रहेंगें।

——

३-१५ सायम्

'आत्माओं के सम्बन्ध'

आत्मायें असंख्य हैं। परमात्मा की दृष्टि में गिनी हुई हैं किंतु एक अल्प मनुष्य की गिनती और ज्ञान से बाहर हैं। फिर भी प्रत्येक आत्मा का दूसरी सब असंख्यात आत्माओं से सृष्टि की आदि से अन्त तक कभी न कभी प्राकृतिक संबंध (रिस्ता नाता) अवश्य होता है। एक जन्म में कम से कम चालीस जीवों से उसका घनिष्ट संबंध होता—माता¹, पिता², दादा³, दादी⁴, चाचा⁵, चाची⁶, नाना⁷, नानी⁸, मामा⁹, मामी¹⁰, बहन¹¹, भाई¹², मौसा¹³, मौसी¹⁴, फुफा¹⁵, फूफी¹⁶, मौसेरा¹⁷, ममेरा¹⁸, श्वसुर¹⁹, सास²⁰, साला²¹, साली²², पुत्र²³, पुत्री²⁴, स्त्री²⁵, दामाद²⁶, बहनोई²⁷, भावज²⁸, भतीजा²⁹, भतीजी³⁰, भानजा³¹, भावजी³², दोहता³³, दोहती³⁴, चचेरा³⁵, फुफेरा³⁵, गुरु³⁶, शिष्य³⁷, स्वामी³⁸, सेवक³⁹ ।

		१	२	३	४	५	६	
संबंध होता—माता,		पिता,	दादा,	दादी,	चाचा,	चाची,		

.प्रत्येक मनुष्य के दो प्रकार के कर्म एक निजी, दूसरे सामाजिक, जिनको स्वगत और

परगत कह सकते हैं। निजी कर्मों का फल तो आयु और जाति है। इससे दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं किंतु परगत सामाजिक कर्मों का फल भोग है जो दूसरों से सम्बन्धित है।

——

१५-६-४६ शनिवार ५ बजे सायम्
२ आषाढ़ २००३ वि० एकम् (कृष्णपक्ष)

'सदाचार एक ढाल'

स्त्री जाति को प्रभु ने सौन्दर्य का गुण दान दिया किंतु उसका शारीरिक सौन्दर्य पुरुष के लिए एक बरछी (छुरी) का काम करने वाला होता है। पुरुष के बचाव की अमोघ ढाल सदाचार ही है। बिना इस ढाल के वह शीघ्र घायल हो जाता है।

——

१८-६,४६ मंगलवार ३ बजे अपराण्ह
५ आषाढ़ २००३ वि० चतुर्थी (कृ०)

'अपर्ण=ऋण से मुक्ति'

मनुष्य का जन्म पिता से तो लेन-देन के संबंध से होता है। कई पिता से लेने वाले, कई पिता का ऋण

उतारने वाले बनते हैं। परन्तु मां का ऋण आज तक किसी को नहीं उतारना पड़ा। न मां ऋण उठाती है। स्त्री स्वयं धन-रत्न मानी जाती है इसलिए सन्तान रूपी धन को उत्पन्न करती है। न ही पुत्र मां का मालिक बनता है। विरला ही नाना का उत्तराधिकारी बनता है किंतु मां की सम्पत्ति कोई नहीं होती। कारण ? यह इसलिए कि स्त्री अपने को पति के अर्पण कर देती है। जो स्वयं अर्पण हो फिर उसकी सम्पत्ति कैसी ? वह तो स्वयं सम्पत्ति दूसरे की बनी हुई है। इसलिए जो अर्पण हो जाता है उस पर कभी ऋण नहीं हो सकता। ऐसे ही जो भक्त प्रभु अर्पण हो जाता है उस पर किसी का भी ऋण नहीं चढ़ता।

——

२२-६-४६ | १० बजे प्रातः
८ आषाढ २००३ वि० | अष्टमी (कृ०)

'शारीरिक नहीं आत्मिक रोग की चिकित्सा कर'

वह व्यक्ति, जो शरीर से रोगी पड़ा हो और जब भी कोई उस से पूछे क्या हाल है और वह उत्तर दे—मैं ठीक हो रहा हूँ, या अच्छा हाल है या, वाह-वाह है।

जो पल गुजरे वाह ! वाह या कहे मामूली बात है। दुःख-सुख तो शरीर का धर्म है ! अपने आप भुगतता रहेगा। तो उसे बुधिमान, साहसी, और दृढ़मन वाला समझा जाता है। किंतु जब कोई पापी अधम भी प्रसिद्ध हो और कहे —वाह ! वाह जिस हाल में रखे सो ठीक है, या मैं नेक हूं, तो उसे मूर्ख और निर्बल समझा जाएगा (शरीर रोग में तो रोगी के लिए (Auto Suggession) आत्मप्रेरणा भी एक औषधि का काम करता है। मानसिक शक्ति के द्वारा अपने आपको अच्छा मानना, नीरोग भावना करते रहने से स्वास्थ्य आ जाता है किंतु आध्यात्मिक रोग में तो कोई बात भी काम नहीं कर सकती। हमारी प्रार्थनायें भी व्यर्थ रह जाती हैं जब तक क्रियात्मक न किया जावे। प्रभु के गुण का धारण कल्पना करने से कभी नहीं बनता, क्योंकि इसमें पूर्व जन्म-जन्मांतर के संस्कार प्रबल काम करते रहते हैं, और शारीरिक रोग जब आता है तो समझो पाप अपना फल भुगताने के लिए आ गया है और वह सीमित है। इसलिए सीमित वस्तु ने किसी न किसी प्रकार से समाप्त हो ही जाना है किंतु संस्कार तो असंख्य जन्मों के और असंख्य होते हैं। अतएव बड़े तप, परिश्रम की आवश्यकता है।

शरीर का तो रोग दूर करना होता है किंतु बुराई या पाप काटने के लिए उसका क्रियात्मक रूप, उसी प्रतिकूलता का गुण धारण करना।

जैसे एक व्यक्ति कृपण है। अब कृपणता का त्याग तो तब समझा जावेगा जब उसमें उदारता काम करेगी एक व्यक्ति निर्दयी, कठोर हृदय है। उसकी यह बुराई तब जावेगी जब हृदयों में दया भर जावेगी। इसलिए आध्यात्मिक रोग बड़ा भयंकर होता है जो जन्म-जन्मांतर साथ चला जाता है। किंतु शरीर का रोग शरीर की समाप्ति के साथ तो अवश्य समाप्त हो ही जाता है यदि पहले पीछा न छोड़े। अगले जन्म के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही हमारी अज्ञानता है कि शारीरिक रोग को दूर करने के लिए तो हम सहस्रों रुपये व्यय करने को तैयार रहते हैं, घर परिवार भी छोड़कर पहाड़ों पर जा रहते हैं किंतु आध्यात्मिक रोग की ओर पैसा भर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

अविद्या की पुत्री अस्मिता के कारण हमने इस देह को ही शरीर(आत्मा)समझ रखा है, इसलिए इससे राग है। इसके वियोग का भय रहता है इसके प्रतिकूल वस्तु से हमको द्वेष रहता है। इसीलिए इसी शरीर के

लिए हम सब कुछ न्योछावर करते हैं। जिसे ज्ञान हो गया कि शरीर मिट्टी का है, मैं तो आत्मा हूँ। तब वह आत्मिक रोग को दूर करने के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करता है। फिर वह चुप नहीं बैठ सकता।

३०-६-४६ रविवार
१७ आषाढ २००३ वि० एकम् (शुक्लपक्ष)

'सादगी और तप न छूटें'

बचपन में सादगी और तप बच्चों में नैसर्गिक होता है जो अज्ञान के आश्रय बहुत काल तक रहता है। प्रकृति ऐसा क्यों कराती है ? मनुष्य का जन्म चार पदार्थों की अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति के लिए होता है। ये चारों बिना सादगी और तप के प्राप्त नहीं हो सकते। अज्ञान में प्रकृति स्वयं आश्रय बनती है बच्चा सादगी और तप से बढ़ता, मजबूत होता है किंतु बड़ा हो जाने पर प्रकृति सहायता नहीं करती बल्कि प्रकृति के अनुकूल बनने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। अज्ञान की दशा में सीधा शरीर, फिर ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को आसानी से प्राप्त कर सकने में

समर्थ होता है। परन्तु धनी लोग जो अपने ज्ञान से बच्चों को प्रकृति की सहायता से वंचित रख कर, बच्चों के अज्ञान को परिवर्तित कर देते हैं। उन्हें सादगी और तप का जीवन व्यतीत नहीं करने देते। उनके इस ज्ञान में भय कारण होता है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि बच्चा बड़ा होकर ज्ञान भी प्राप्त कर लेवे तो भी शरीर को सादा, तपोमय नहीं बना सकेगा। वह धर्मार्थ काम मोक्ष में अनुत्तीर्ण हो जाएगा। प्रारम्भिक तप की तुलना में कामवृत्ति, सादगी के प्रतिकूल कठोरता और अहंकार बचपन में सध जाता है। फिर बड़ी आयु में निकालना कठिन हो जाता है।

४-७-४६ बृहस्पतिवार ४ बजे सायम्
२१ आषाढ २००३ वि० षष्ठी (शुक्लपक्ष)

'अनोखा रहस्य'

प्रभु की देन किसके लिए है? जो अदीन है। दीन के लिए प्रभु की देन जाने में निषेध कर देती है। प्रभु का नाम भगवान है जो 'भग' (ऐश्वर्य) का स्वामी हो। वेद ने भगवान को 'शशमान' कहा है। 'शशमान' का

अर्थ होता है जो 'उछालियां दे रहा होता है' खाली वह भी न रहा हो, तो भगवान अपने 'भग' को उछालियां दे रहा है। लेगा वही जो अदीन है। कैसे ? जैसे सूर्य का प्रकाश अनन्त फैल रहा है किंतु लेता वही है जिस के आंख हैं, जो चक्षुहीन, दीन है, वह इससे सदा वंचित रहता है—आकाश में शब्दों का स्रोत बह रहा है किंतु सुनेगा वही जो कान से अदीन है। जो कान से दीन है उसके लिए शब्द की दात, हारमोनियम और ग्रामोफोन गान और स्वर नहीं हैं।

दीन क्यों बनता है ? 'दीन' और 'दैन' में 'द' और 'न' तो एक जैसे हैं किंतु मात्रा के भेद के समझने से 'दैन' की विशेषता प्रकट होती है। जो देता है उसका हृदय विशाल, आर्द्र और नम्र होता है। जो नहीं देता उसका हृदय कृपण और कठोर होता है-जो विशाल और नम्र का विपरीतार्थक है। बस अपने लिए कृपण और दूसरे के लिए कठोर जो होगा वही दीन बनेगा। कृपणता निन्दनीय कर्म है और कठोरता द्वेष वृति है। वेद ने कहा—ऋग्वेद मण्डल ? सूक्त २४ मंत्र ४—यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः। अद्वेषो हस्तयोर्दधे ॥

हे प्रभो ! जो भी तेरा ऐश्वर्य जितने प्रकार का है

वह सब उछालियाँ दे रहा, बह रहा है। मैं निन्दा से पूर्ण और द्वेष रहित हाथों में धारण करना चाहता हूं। वह व्यक्ति भाग वाला नहीं समझा जाता है जो मांगता है और मांगने पर उसे मिल जाता है। भाग तो उस का है जिस का भाग (हिस्सा) प्रभु के ऐश्वर्य में है। पिता के धन में पुत्र का भाग है, वह मांगता नहीं, न उसे मांगना पड़ता है। भगवान के भाग (ऐश्वर्य) में भाग=हिस्सा, किसका बनता है ? चूंकि भाग हाथों से बांटा जाता है, हाथों से लिया जाता है, इसलिए जो अपने हाथों की कमाई का जितना भाग भगवान अर्पण करेगा, उतने भाग का भाग में (ऐश्वर्य) भागीदार बनेगा। मानो एक व्यक्ति का एक कारखाने में आठ आना भाग है, दूसरे का दो पैसा अर्थात् जब कारखाना खरीदा गया तो आधा मूल्य 'क' ने दिया और १-३२ भाग का मूल्य 'ब' ने दिया। कारखाने ने लाख रु० कमाया, तो 'क' को पचास हजार, 'ब' को ३ हजार कुछ अधिक मिलेगा।

२ 'अनागसो अदितये स्याम'

संसार में सब दिन प्रभु की उपज है, या अदिति माता की उपज है। केवल एक वस्तु है जो मनुष्य की अपनी उपज है। वह है विचार। आंख और आंख से देखे जाने

वाला सौन्दर्य, रूप दोनों प्रभु की उपज या बनाई हैं। यदि मनुष्य पवित्र प्रभु की बनाई आंख से पवित्र रूप, सौन्दर्य को देखकर बुरा विचार उत्पन्न कर लेता है तो यह कठोरता है, द्वेष है अदिति माता से। कान और कान से सुना जाने वाला शब्द, दोनों प्रभु की देन हैं। यदि मनुष्य सुनने पर, अपना कुविचार बना लेता है तो यह कठोरता है। ऐसे सब इन्द्रियों के लिए जानो। इस का फल दीन-हीन इन्द्रिय होना पड़ेगा। तात्पर्य यह निकला कि पवित्रता ही अदीनता है। अपवित्रता से दीनता मिलती है। इसलिए वेद भगवान ने आदेश किया-'अनागसो अदितये स्याम।' हमको अदिति माता के समक्ष या उसके दरबार में पाप रहित रहना चाहिए। तो अदिति माता अपने सब उपजाऊ देव हमें उछाल, उछाल कर देगी। हम भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोग अपने आप वहीं ही चढ़ावे चढ़ाते हैं जिस स्थान को वे पवित्र समझे होते हैं। साधु सन्तों को लोग पवित्र जान कर ही अनेक प्रकार की वस्तुयें उनकी भेंट कर आते हैं। जब उन्हें उनके अपवित्र होने का ज्ञान हो जाता है, समीप नहीं फटकते।

——

६-७-४६ शनिवार १२ बजे
२३ आषाढ २००३ वि० अष्टमी (शु०)

'प्रभु का झरना'

प्रभु की रक्षा क्या विचित्र है कि ज्येष्ठ आषाढ की गर्मी, सूर्य की कठिन तपस् से मनुष्य झुलस कर काला स्याह हो जाता, किंतु क्या लीला प्रभु ने रची कि सूर्य की ताप शरीर के लगते ही भीतर से पानी का झरना बाहर शरीरपर बहा देती है और शरीर ठण्डा हो जाता है। हवा न भी हो तो पंखा करने से वही पानी गर्म हवा को भी ठण्डा कर देता है। यदि इतना सामान बाहर से लाना पड़ता तो प्रत्येक मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर हो जाता। परन्तु प्रभु ने तो निर्धन, धनी सबके शरीरों में ऐसे झरने बना दिए हुये हैं कि तुरन्त ठण्डा कर देवें।

——

७-७-४६ रविवार ४—३७ सायम्
२४ आषाढ २००३ वि० नवमी (शु०)

'सच्चा प्रेम और विश्वास (वफा)'

सच्चा प्रेम प्यार और विश्वास (वफा) उन लोगों में होता है जो कृतज्ञता का गुण रखते हैं। दूसरे के थोड़े

उपकार को भी कभी नहीं भुलाते। जिनमें कृतघ्नता का अवगुण होगा, उन का प्रेम प्यार स्वार्थ तक सीमित रहेगा। विश्वस्त होना वफा तो उनमें बन ही नहीं सकता। हाँ स्वार्थ के सामने उनका प्रेम सच्चे प्रेमियों से भी बढ़कर दिखाई देगा। सच्चा कृतज्ञ वह होता है जो अपने उपकार करने वाले में कभी दोष सुनने, या देखने पर भी उसकी भलाई सोचना चाहता और करता है। न कभी विरोध करता, न उपकार को भुलाता है। कृतघ्न व्यक्ति सदा दोष ढूंढता रहता है क्योंकि वह इससे अपना छुटकारा समझता है। बंधे प्रेम को तोड़ने के लिए कोई बहाना आवश्यक है।



९-७-४६ मंगलवार ५-३० सायम्

२६ आषाढ २००३ वि० एकादशी (शु०)

'हाथ और वाणी'

मनुष्य शरीर में जितना उपकार, सेवा, स्वार्थ और परमार्थ हाथ करता है उतना और कोई भी इन्द्रिय नहीं करती। भूखे को अन्न-दान, प्यासे को जल-पान, दीन-दुःखी की धन-तन सेवा, बुजुर्गों की सेवा, भेंट आदर

सत्कार, दुष्टों का दमन, बांधना, श्रेष्ठों की रक्षा, यज्ञ-दान सब यही करता है। यहां तक कि भूमि को बनाना बीजना, काटना, पीसना, पकाना, परोसना और खिलाना महल अटारी छाया का बनाना, गाड़ी, घोड़ा, मोटर चलाना संक्षेपतः भाव यह कि संसार के करने वाले सब काम इसी हाथ की कृपा से होते हैं। शरीर की सफाई, घर, मकान दीवार, छत की सफाई भी इसी हाथ से है, किंतु इसमें यह सामर्थ्य नहीं कि अपनी आत्मा को नमस्करणीय बना सके जिस आत्मा का यह कारण है उस की पूजा करा सके। परन्तु वाणी एक ही स्थान में रहती है और इसमें हाथ की भाँति अपने उपकार सेवा करने का सामर्थ्य भी नहीं और न करती है तो भी आत्मा को संसार में नमस्करणीय बना देती है और पूजा करती है। कारण ?

हाथ सब कार्य करता है किंतु प्रभु भक्ति नहीं करता। ज्ञान-अंधों को सुमार्ग सुपथ नहीं दिखाता। इसलिए वह ऊंची श्रेणी को प्राप्त नहीं। वाणी अपने देवता सवितादेव, जगत् रचियता के गीत गाती है, अज्ञान–अंधकार में जन्म जन्मान्तर के गोता खाने वालों को ज्ञान-नेत्र प्रदान करके, आवागमन के चक्कर से छुड़ाती है। चूंकि सबसे श्रेष्ठ दान ज्ञान दान है और सर्वस्व दान अपना आत्म समर्पण, आत्मदान ही होता

है जो प्रभु भक्ति से होता है। इसलिए ये दो काम. केवल दो काम वाणी करती है और इससे अपनी आत्मा के चरणों को पुजवाती है। वाणी का साथ सारा शरीर देता है, और हाथ केवल आंख का सहायक होता है। प्रायः तो उसकी भी सहायता नहीं मिलती। वाणी जब बोलने लगती है तो हाथ की अंगुलियाँ कई प्रकार के नृत्य करती देखी जाती है। आंख अपना रूप ऐसा कर लेती है। कान तो वाणी से दूर नहीं जाते। नाक और माथा, भ्रू और वक्षस्थल(छाती) हांजी-२ कर रहे होते हैं। जैसा वाणी मन और मस्तिष्क पर अपना सिक्का बैठा देती है, वैसा हाथ उसका अनुवाद पूरा-२ नहीं कर सकते। इसलिए कहा—'कर्मखण्ड की वाणी जोर'—

मनुष्य का बच्चा उत्पत्ति से ही जो गुण साथ लाया प्रकट रूप से वह हंसना और रोना ही थे और ये ही दो गुण उसके अन्त को दर्शाते हैं। या तो हंसता जायगा, या रोता जायगा और वाणी एक इन्द्रिय है जो अपने शब्दों से दूसरों को बेअख्तार-शक्ति से बाहर हंसा देती है या रुला देती है। ऐसी और किसी में सामर्थ्य नहीं। मनुष्यों और प्रभु को रिझाने वाली यही एक बलवती देवता वाणी है।

———

१५-७-४६ सोमवार

३२ आषाढ २००३ वि० एकम् (कृ०)

'प्रभु का अन्तर्यामीस्वरूप'

वह दिन और सुघड़ी कब आयेगी भगवान ! जब तेरे अन्तर्यामी रूप को मेरा मन सच्चे अर्थों में जान सकेगा। यही बड़ी कठिनाई है प्रभो ! जो तेरी अपनी निज दया के बिना हल नहीं हो पावेगी। जब मैं मन से कहता हूँ ' विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्' तो संभल तो जाता है किंतु न सहमता है न डरता है। मेरे सामने दृश्य आया—

' स्कूल के बच्चों को मध्याह्न का अर्द्ध अवकाश हो गया सबके सब लड़के कमरे से बाहर खेलने, खाने पीने दौड़ गये किंतु एक लड़के ने सुअवसर देख अपने साथी के बस्ते से पेन्सिल रंगीन निकाली और जब उसे अपने बस्ते में बांधने लगा तो अचानक दृष्टि द्वार पर पड़ गई। क्या देखता है कि अध्यापक महोदय उसकी इस क्रिया को देख रहे थे। अध्यापक ने ज्यों ही देखा कि अब लड़के ने देख लिया है, वह बहाना से सामने-२ तीव्र गति से चल पड़ा। लड़के ने अब पेंसिल भी वापिस साथी के बस्ते में रख दी किंतु इतनी कंपकंपी शरीर में हो रही

है कि निर्बलता से, भय से उठ नहीं सकता। क्योंकि इसने कर्मफल देने वाले अध्यापक को देख लिया है कि अब मेरा बहाना न चलेगा।

न परवाही की आवश्यकता है। अध्यापक खूब दण्ड देगा कि देख लिया है अब मैं दण्ड से बच नहीं सकता।

ऐसे मन को जब तुरन्त कहा जाता है कि अरे ! वह प्रभु तुझे देख रहा है तो दुर्विचार करना तो तुरन्त त्याग देता है किंतु अब भी उसे पूर्ण विश्वास नहीं है क्योंकि प्रभु को अब भी 'वह प्रभु अनुपस्थित अवस्था में कहा जा रहा है। उपस्थित अवस्था में नहीं, इसलिए भय नहीं रहता।

दो लड़के अध्यापक के नियम भंग करने का षड्यंत्र कर रहे थे। जबकि और कोई कमरे में न था किंतु जब बाहर निकले तो अध्यापक कान लगाये दीवार के साथ खड़ा देखा तो अब वे डर गये और कांपने लगे कि अध्यापक को तो हमारे षड्यन्त्र का पता लग गया। वह सब सुन रहा था। अब हम नहीं बचेंगे। परन्तु मन जब अहंकार से बुराई का षड्यन्त्र करता है प्रभु के नियम भंग करने का, और उसे जीवात्मा कहता है, 'अरे ! प्रभो, 'विश्वानि वयूनानि विद्वान्' मैं तो बुराई तो नहीं

करते' योजना कच्ची हो जाती है, किन्तु डरते फिर भी नहीं। कारण ? कि अन्तर्यामी का प्रबल शब्दों में सुन तो रखा है किन्तु साक्षात् नहीं किया। जब तक साक्षात् न हो तब तक पाप विचारों से रहित नहीं हो सकता। इसलिए हे प्रभु देव! अपने इस अन्तर्यामी रूप को झलक साक्षात् रूप से दिखाइये जिससे कि तुझे अपनी प्रार्थना पुकार के सुनने का बार-२ कष्ट न दूं। आप भी बचो और मुझे भी बचाओ।

१८-७-४६ बृहस्पतिवार १०-४५
३ श्रावण २००३ वि० चतुर्थ (क्र०)

'अन्तर्मित्व अज्ञेय'

एक योगी या मन की आंखे रखने वाला मनुष्य प्रभु की सत्ता का साक्षात् बाहर तो उसके दयालु और विश्वम्भर के रूप में करता है। असंख्यात जीव क्षुद्र से क्षुद्र कैसे अपनी खुराक को मुख में लिये देखे जाते हैं। मनुष्य रोटी खाते समय, या मिठाई खाते समय, अपनी ओर से चुन-२ करके सारी खा जाता है किन्तु फिर भी उस प्रभु की अद्भुत लीला देखने में आ जाती

कि सैंकड़ों चींटियां मनुष्य के अनजानेमें गिरी हुई वस्तु, नाखून भर वस्तु पर, एकत्रित हुई उसे खाती या उठाती हुई देखी जाती हैं। भीतर की सत्ता या स्वरूप का प्रथम साक्षात् जो योगी को होता है, वह केवल एक रुप अन्तर्यामी है कि कैसे वह प्रभु अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार को, जो मनुष्य के मनमें उठता है, तुरन्त जान लेता है।

प्रभु के बहुत गुणों का साक्षात् हो जाना सहल (आसान) हैं किंतु अन्तर्यामी रूप का भान साक्षात् करना बहुत कठिन है और जब उसका साक्षात् योगी को हो जाता है तो फिर उससे पाप नहीं होता। अन्तर्यामी रूप ऐसा अद्‌भुतहै कि जब योगी भान कर लेता है तब लट्टू होकर प्रभु की ओर उसकी वृत्तियां दौड़ती हैं। संसार में भी जो व्यक्ति किसी के भीतर की बात या प्रश्न को, जान जाने वाला सुना जाता है, लोग उसे देखने के लिए और अपने मन की बात जांचने के लिए दौड़ पड़ते हैं और उसके आस-पास रहते हैं।

— —

२१-७-४६ रविवार ११ बजे प्रातः
६ श्रावण २००४ वि० सप्तमी (कृ०)

'विवाह संस्कार-गृहस्थ आश्रम'

पाणिग्रहण में छः प्रतिज्ञायें स्त्री-पुरुष एक दूसरे

के साथ कहते हैं। उनमें एक भी प्रतिज्ञा ऐसी नहीं जो भोग विलास में लिप्त रहने के लिए हो। चूंकि मनुष्य का जन्म मिलता ही संसार चक्र से छुटकारे के लिए है, इसलिए गृहस्थ ही मुक्ति और मुक्ति का सहल साधन है। इस संसार का समस्त सुख और परलोक का सुख प्राप्त करने का साधन है। पाणीग्रहण के पहले ही मंत्र में प्रतिज्ञा की जाती है कि मैं तेरे हाथ को अपने सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ। सौभाग्य शब्द 'भग' से बनता है। 'भग' का अर्थ है ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा

१ २ ३ ४

ज्ञान और वैराग्य। जिनमें ये छः वस्तुयें हों वह

५ ६

सौभाग्यशाली है। वेदमर्यादानुसार कन्या, जिसमें वह वरदान हो चुकी होती हैं, तो अपना उद्देश्य निजी बतलाती है कि मैं इस संसारी पति को इसलिए वरती हूं कि मैं गृहस्थ धर्म में, धर्म कर्म करती हुई, पतियों के पति (परमात्मदेव) के लोक को प्राप्त करूं। परमात्मा की प्राप्ति बिना वैराग्य के तो हो नहीं सकती और वैराग्य बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिए सौभाग्य' में ज्ञान और वैराग्य को रखा गया है। ऐश्वर्य, शोभा, यश तो सब चाहते हैं और गृहस्थी ऐश्वर्य के उत्पन्न

करने में अपनी ओर से कमी नहीं करता, अपितु मुख्य लक्ष्य ही ऐश्वर्य प्राप्ति बनाता है क्योंकि इसी से शोभा और मान, कीर्ति-यश बन सकता है। परन्तु वास्तविक ज्ञान और वैराग्य की ओर ध्यान नहीं देता शास्त्र मर्यादा तो गृहस्थ के पीछे वनस्थ(वानप्रस्थ)और संन्यास की है। यदि वैराग्य न होगा तो कैसे वानप्रस्थी बने और संन्यासी बनेंगा पूर्णसौभाग्य प्राप्त करने के लिए पाणिग्रहण में प्रथम ही दिन वैराग्य की प्रतिज्ञा है। मैंने भी कभी विवाह सँस्कार में 'सौभाग्य' को ऐसा महत्वपूर्ण समझकर व्याख्या नहीं की। 'सौभाग्य' का अर्थ यद्यपि बहुत रोचक बनाकर बतलाता, किंतु उसमें तमाम परोपकार की झलक होती। मुक्ति की पन्थ न होती थी। अब इस शब्द की 'भग' के अर्थ ऋषि दयानन्द महाराज और वेद मन्त्रों की व्याख्या द्वारा मालूम हुए।

वेद का एक-२ शब्द, अपने आपमें कितना पूर्ण है!

——

२२-७-४६ सोमवार १०-४५ प्रातः
७ श्रावण २००३ वि० अष्टमी (कृ०)

'अदिति. अनुमति, सरस्वती'

एक आर्य, यज्ञ करने वाले को, यज्ञ की क्रिया, क्या

सुन्दर शिक्षा देती है। जब नाली में पानी डाला जाता है तो पूर्व में डालते समय हम बोलते हैं, अदितेऽनुमन्यस्व और फिर पश्चिम में अपनी ओर डालते हैं तो कहते हैं 'अनुमतेऽनुमन्यस्व'। यह सारा संसार और हमारा शरीर उस एक अखण्डनीय अदिति शक्ति से बना है और अदिति ही ऋतुओं और सारी उपजों को और संसार की सब क्रियाओं को करा रही है। जब हम अदिति की ओर पानी डालते हैं–उसे लक्ष्य समझ कर अपनी ओर सब डालते समय कहते हैं–हम अदिति माता के अनुकूल हों। यह तो हो ही नहीं सकता कि अदिति हमारे व्यक्तिगत अनुकूल हो जावे। हां हम अपने आपको इसके अनुकूल बना देवें तो सदा सुखी रहें। इसलिए अदिति माता ने तीन जगत या तीन शरीर बनाए। एक अन्तरिक्ष में, दूसरे पृथ्वी. तीसरे मनुष्य शरीर। दोनों उपर और नीचे के लोकों का मनुष्य शरीर पर प्रभाव पड़ता है। अन्तरिक्ष दैवी नियम तो अटल है। हमको उसके अनुकूल बनने के लिए प्रभु ने पृथिवी दी कि इसकी सहायता से अपने आपको अदिति या दैवी नियमके अनुकूल बनाओ। यह तुम्हारा संगतिकरण और देव पूजा बन जायेगी।

उदाहरण–कठिन सर्दी पड़ी। अब हम सर्दी तो नाश नहीं कर सकते। क्योंकि वह तो अदिति का अखण्ड-

नीय नियम है, न टूटने वाला व्रत है। अब हम पृथिवि माता की सहायता से इसकी उपज, गर्म वस्त्र तन पर ओढकर अपने को अदिति के नियम के अनुकूल बना लेते हैं। अब सर्दी हम पर कोप नहीं करती। पृथिविसे संगतिकरण और अदिति के नियम की पूजा देवपूजा हो गई। अब हम सुखी हो गये। गर्मी के मौसम में हवा बन्द हो गई तो हमनें पंखे की सहायता लेकर अपने को अनुकूल बना लिया। इ का नाम है 'अनुमते-ऽनुमन्यस्व।' अब यह तो नित्य को साधारण सी बातें हैं जो हम कर लेते हैं किंतु चतुराई तब है, जब दैवी प्रकोप अचानक आ जाए और होता है यह सर्वत्र। एक व्यक्ति पर नहीं होता, तो 'अनुमति' का अर्थ है सलाह। किसकी सलाह लेंवे। जो अदिति के अनुकूल बना देवे तो वह 'सरस्वत्यनुमन्यस्व' सरस्वती नाम है वेदवाणी का, वेद भगवान की सलाह लेवें। वह हमें कैसे सिखाता है अनुकूल होना ? आजकल संसार में खाद्यपदार्थों की न केवल अधिक मंहगाई है, बल्कि पदार्थ दुर्लभ हो गए हैं। जो सब्जी चार आने सेर बिकती थी अब सात आने पाव मिलती है। अब सब्जी का भी अभाव है। गेंहू बहुत मंहगा है। चारा, घी,दूध, मंहगा है। चारा जैसे इस वर्ष नहीं हुआ तो वेद सलाह

देता है, यह शरीर अदिति का बना हुआ है। अदिति के अनुकूल बनना चाहिए। जब पदार्थ कमहैं तो उनका प्रयोग कम ही होगा। निर्धन लोग अपनी लाचारी से अदिति माता के अनुकूल बन जाते हैं। जब लकड़ी नहीं मिलती तो उपलों से और जब उपलें भी न मिले तो तन को हिलाते हैं। बाहर जंगल से चुन लाते हैं। सब्जी नहीं, तो दाल खाकर निर्वाह करते प्याज अचार से भी, लस्सी से अपना निर्वाह कर लेते हैं पर उनकी यह अनुकूलता किसी और के परामर्श देने से नहीं बनती। अदिति माता ही उन्हें शिक्षा दे देती है। असली अनुकूलता तो अदिति के पुत्रों की है जो अपनी माता की आज्ञा का पालन करें। अदिति निर्धन, विवशता, निःस्सहाय नहीं हैं। वह तो महान धनवान शक्तिशालिनी और उदार है, महादानी है। निर्धन बेचारा कहाँ से दान कर सकता है। साहूकार धनवान ही दानी बन सकते हैं। इसलिए धनवानों के लिए वेद परामर्श देता है। धनी लोग भी ऐसे समयों पर निर्वाह करते होंगे तो कृपणता से। उन्हें कृपण तो किसी काल में नहीं बनना चाहिए। कृपणता सा अवगुण और कोई है नहीं। वेद तो इसे बार-बार धिक्कारता है। वेद कहता है—मेरे भगवान को कृपणता दुःखी कर देती है धनवानों को पैसे की कमी नहीं है। परन्तु इतनी

मंहगी वस्तुयें कौन खरीद सकता है ? धनवान ही तो करेगा । उदार हृदय धनी के मन में यह भी समाया होता है कि प्रभु ने दिया है तो क्यों कठिनाई से निर्वाह करें। जब तक देता है हमें खुलकर निर्वाह करना चाहिए। जब आय है तो क्यों न व्यय करें ? न करें तो कृपणता है। यहां वे भूलकर जाते हैं । प्रकृति जब कोप करती है तो वह अपने पुत्रों की, प्रजा की मानसिक स्थिति स्वभाव, आदत और रूचि को बदलने के लिए कोप करती है। इसलिए उनको अपनी आदत, आराम के स्थान पर तप की आदत बना लेनी चाहिए तप और कृपणता में पृथिवि आकाश का अन्तर है। गवर्नमेन्ट जहां राशन निश्चित करती है तो तीन छटांक आटा प्रति व्यक्ति यदि करती है तो धनी के लिए भी तीन और निर्धन के लिए भी तीन छटांक का एक समान आदेश होता है । इसमें गरीबी और अमीरी का विचार करके वजन निश्चित नहीं हुआ बल्कि मात्रा, भार और वस्तु सुलभता की दृष्टि से निश्चित हुई है। इसी प्रकार धनी लोग अपना दूध घी आदि का व्यय भी अपने लिए कम कर सकते हैं जिससे उनकी आदत सहन योग्य बन जावे । अपने घरों का प्रबन्ध अपने सब मेम्बरों में तप के विचार से निर्वाह करने का करें। तो

व्यक्ति पहले सेर दूध पीता था, अपनी गाय भैंस रखने वाला, अब चारे की कमी से गाय का पालन तो पूरा करना चाहिए, किंतु सेर के स्थान पर अब पाव भर पीवें तो घी में सहायता मिलेगी। अमीरों के बच्चे ऐसे कोप के समय में ही अपने माता-पिता के आधार पर सादा और तप का जीवन बना सकते हैं कपड़े के कन्ट्रोल में अमीर लोगों ने भी अपनी अलमारियां, सन्दूक, ट्रन्क ही खरीद खरीदकर घर को बजाजी की दुकान बना दिया था। उन्होंने अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। यह समय प्रभु की ओर से सुधार के लिए मिला है। हमें अब अनुकूल बन जाना चाहिए। सब्जी और फल पर निर्वाह करने वाले नेचर क्योर(प्राकृतिक चिकित्सा) वालों की अब कौन सुनेगा? इतनी सब्जी कौन ले सकता है और खा सकता है? सब्जी फल के अधिक खाने का उन्हें ऐसे समय में अपने आप छूट सकता है।

६ बजे सायम्—

काम क्रोध आदि का निदान

१. तुझे सौन्दर्य क्यों पसन्द है? तुझ में काम है।

२. तुझे दूसरों के अवगुण देखने की क्यों आदत है? तुझ में क्रोध है?

३. तुझे दूसरों की वस्तु में स्वाद क्यों लगता है ?
तुझ में लोभ है।

४. तुझे अपनों के अवगुण सुनने क्यों पसन्द नहीं
तुझ में मोह है।

५. तुझे अपनी बात क्यों अच्छी लगती है ?
तुझ में अहंकार है।

२. 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति'

मनुष्य की वास्तविक जीवनी जागृत में विचारों-कल्पनाओं में, और स्वप्न में, संस्कारो के रूप में अपने आप पर प्रकट होती है जिसे मानसिक जीवन या आत्मिक जीवन कहें। व्यवहारिक जीवन का सम्बन्ध शरीर और बुद्धि के साथ है जो एक भाग बाह्य रहता है, दो भाग आन्तरिक। सिवाय अपने, दूसरे को पता नहीं लगता। मनुष्य को स्वप्न प्रतिदिन आते और भूल जाते हैं। कल्पना में भी विचार आते और भूल जाते हैं इसलिए मनुष्य को अपना सही पता नहीं लग सकता। स्वप्न तो लिखे भी जा सकते हैं किंतु कल्पना की बातें तो लिखनी कठिन हो जाती हैं। इतना समय कहा से कोई लावें? और फिर अश्लील या बुरी भावनायें लिखने का साहस भी कैसे हो सकता है——

यज्जाग्रतो दूर+मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं ।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।' य० ३४·१

मंत्र का अर्थ पहले मैं और रूप से समझता था। अब इस समय समझ आई कि जाग्रत की अवस्था में मन का दूर-दूर जाना कल्पना के अर्थ में है, और स्वप्न के विचार संस्कारों की अवस्था, व्यावहारिक जीवन या मनका तो इस मन्त्र के साथ सम्बन्ध ही नहीं। विचार और संस्कार का सम्बन्ध है।

३ संस्कारों का विकृत होना

मनुष्य बहुत बार अपने संस्कारों, विचारों से भी नये उत्पन्न और संग्रह करता रहता है। जैसे—मेरे पास एक वस्तु रखी है जिसे मैंने नौ बजे खाना है इस समय कोई व्यक्ति आ गया और मेरे पास बैठ गया। अब मैं वस्तु को अन्दर से नहीं निकालना चाहता कि यदि निकालता हूं तो उसे भी देनी पड़ेगी? न दूं अकेला खाऊं तो लज्जा आयेगी। ढीठ या अनसमझ समझा जाऊंगा। यदि दूं तो मुझे कम होगी। अब मैं चाहता हूँ कि यह सज्जन किसी प्रकार चला जाए तो अच्छा है। इसकी बात भी मुझे मीठी नहीं लगती। अपने खाने के स्वार्थ

में अब इस थोड़े से समय में मैंने कितने संस्कार अपने अन्दर बना लिए। कभी-कभी आया हुआ व्यक्ति दो-दो घन्टा, तीन-तीन घन्टा प्रेम से या कार्यवश बैठा रहता है। तब स्वयं भी व्यक्ति सूखता रहता है और मर्यादा भी नहीं रख सकता। यदि थोड़ी सी समझ आगे ले जावे तो ठीक समय पर बाँट कर खाने का विचार कर लेवे तो प्राण तो कम खाने से निकलते नहीं। इससे मर्यादा भी रह सकती है और स्वयं भी वंचित नहीं रहता। कोई संस्कार अथवा मन्त्र विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकता, बल्कि हृदय की भावना पवित्र हो जाती है। भय और लज्जा से सुरक्षित हो जाता है। ऐसे हम लोग व्यर्थ के संस्कार अपने अन्दर संग्रह करते रहते हैं जो विष समान बन जाते हैं। हमारा जीवन बहुत निर्बल हो गया है—अशिक्षित होने के कारण। अब यह शिक्षा घरेलू है जो माता-पिता के साथ सम्बन्ध रखती है।

——

३ 'विरक्त निर्मोही हो'

एक व्यक्ति बैठा है। उसके छोटे बच्चे आ गये और खाने को कुछ मांगने लगे। उधर देखा-औरों के बच्चे

अपने पिताओं को छोड़कर बच्चों को अपना सा देख इन बच्चों को ओर आ रहे हैं तो वह व्यक्ति चुप बैठा रहा बच्चे तंग करने लगे। अब कैसे दे ? इनको दे तो और भी सभी को दे। न ही बच्चों को कह सकता है। दूसरे बच्चों को हटाता है तो उनके पिता सामने जान जायेंगे देता है तो अपने बच्चों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता अब क्या करे ? मुझे अन्दर से आवाज आई लो इसे अब हल करो ! मैं तो दुविधा में पड़ गया। परन्तु एक बच्चा पिता को मारने लग जाता है—दे—दे। तो पिता कहता है-तुमको कैसे दूं ? तुम्हारे साथ तो इतने और बच्चे हैं तुम्हारे भाइयों के अतिरिक्त, वे न मांगेंगे? बच्चा कहता है-वे अपने पितासे जा मांगेंगे। हम अपने पिता से लेंगे। बच्चे ने तो हल कर दिया। पिता के मस्तिष्कमें बैठ गई किंतु यह संस्कार आगे के लिए बन गया। मैंने कई बार देखा वानप्रस्थियों और संन्यासियों को भी जिनका सम्बन्ध शहरी परिवारों से है और वे प्राय: आते जाते और वस्तुयें लाते, सेवा करते हैं, तो उनके बच्चों को भी वे विरक्त पुरुष प्रसाद दे देते हैं। परन्तु जब उन बच्चों के अतिरिक्त अन्यों के बच्चे अर्थात् जो उनके पास आने जाने वाले, या सेवा करने वाले नहीं, उनके बच्चे आ जावें तो उनको भी संस्कार

यहाँ फेल कर देता है वे अपने सेवकों के बच्चों को अधिक देते और दूसरों को कम देते हैं थोड़ा, वह भी लोक लज्जा से कि हमारे विरक्तपन पर लांछन न लगे परन्तु परमेश्वर तो उन पर लांछन लगाए बिना नहीं रहेगा।

२४-७-४६ बुधवार

९ श्रावण सं० २००३ वि० एकादशी (कृ०)

'वानप्रस्थी का निवृत्ति मार्ग'

मैं कई दिनों से विचार कर रहा था कि सितम्बर के पश्चात एक वर्ष व्रत रह जाएगा। वह एक वर्ष फल मेवा, सिवाय छोले, मुरमुरे फुल्लियों के, त्याग दूं। बाहर या शहर के किसी भी प्रेमी को मेरी चिन्ता या स्मरण न रहे। भोजन जो दाल सब्जी आदि से मिलता है इसी पर निर्वाह पर्याप्त है। ला० गंगाराम जी से परामर्श करूं कि वह भी इस तप में तैयार हो सकते हैं। जैसे इमली का तप किया या न—बात लम्बी थी लिखने का समय न मिलता। कल लाला फतहचन्द जी अपनी श्रद्धा से जामुन लाये—किंतु ला०गंगाराम जी ने मुझे दोपहर के समय बताया और मैंने अपनी आदत अनुसार पूछने पर मालूम किया कि पांच आने पाव जामुन मिले हैं। आध सेर हमारे लिए दे गया है और

तीन पाव अपने घर दे आया है यदि मुझे ला० गंगाराम जी उनके बैठे रहते तो मैं शायद अधिक से अधिक पाव रखकर या पाव वापिस करा देता, नहीं तो दो-चार दाने उठाकर, सारा वापिस कर देता, इसके साथ खाने के पश्चात मुझे विचारों ने घेरे रखा कि कई बार सब प्रेमियों को फल आदि लानेसे निषेध किया कि घर की ही वस्तु बनी चौका की हमारे लिए अच्छी होती है चाहे सज्जन न रूके या हृदय पर पत्थर रखकर रूके। किन्तु लाला फतहचन्द और रामनाथ जी ने कई तरीके निकाल कर अपने को रोके न रखा।

श्रद्धा तो उनकी प्रशंसनीय है, किंतु यह श्रद्धा कुछ बिगाड़ (तजावुज) कर जाती है। प्राकृतिक नियम है बच्चों में खान-पान पशुओं की भांति रहता है। वे एक बार की दी वस्तु से तृप्त नहीं हो सकते। उनको थोड़ी थोड़ी करके उनकी मुष्ठी की समाई के अनुसार बार-बार देने, खिलानेसे तृप्ति होती है। युवक गृहस्थी बार—बार तो नहीं खाता किंतु एक बार उसे थोड़ी से तृप्ति नहीं होती। उसे भी भरकर पूरा खाने से तृप्ति होती है। इतनी मंहगी वस्तु बच्चों के लिए बार-बार भी नहीं खरीदी जा सकती और थोड़ी से उनकी तृप्ति नहीं। तो ला० फतहचन्द जी ने

विचार किया—पाव कुटिया परले जानेसे लज्जा आयेगी वहां मूल्य का विचार नहीं कि पाव पर भी तो तीन आने लगे हैं। वहां वजन की अधिकता से लज्जा को रोका गया। यदि यही वस्तु दोआने सेर होती तो मेरा विचार है ला० फतहचन्द जैसा व्यक्ति अपने घर में दो आने सेर ले जाता और बच्चों को खूब तृप्त करता। तब भी आध सेर पर्याप्त समझे जाते चूंकि दो व्यक्ति बहुत तो खा ही नहीं सकते। कल के इन जामुनों ने मेरे अन्दर बहुत विचार उत्पन्न किये। अन्त में यह उपदेश मिला कि वानप्रस्थ आश्रम को शास्त्रों ने कल्याण मार्ग (मुक्ति का मार्ग) लिखा है। लाखों करोड़ों मनुष्यों में बहुत थोड़े व्यक्ति मिलेंगे जो वानप्रस्थ में प्रविष्ट होंगे। यद्यपि शास्त्रों की आज्ञा सब मनुष्यों के लिए है तदपि आचरण कोई-कोई कर सकता है। और जो एक बार गृहस्थ के मीठे फलों को, पुत्र आदि परिवार को त्याग कर, उनसे अलग चला जाता है, यह कोई साधारण बात नहीं है। बिना पूर्व पुण्य कर्मों के, और प्रभु की कृपा के, कोई मनुष्य घर-बार, पुत्र-परिवार का त्याग नहीं कर सकता। जो मनुष्य घर-गृहस्थ के सुखों को त्याग आया है, उसे तो वानप्रस्थियों, कल्याण मार्गी लोगों के नियम से जीवन व्यतीत करना चाहिए

सुख भोग की इच्छा से तो घर को त्याग नहीं कर आया कि चलो एक घर छूटा सैंकड़ों घरों से भेंट पदार्थ अब मिलेंगे वह तो इन्द्रियों को भोगों से अलग करके अब मन की वासना और इच्छाओं पर नियंत्रण पाने के लिए छोड़ आया है। निःस्सन्देह इच्छा रहित तो नहीं हुआ किंतु लक्ष्य तो कल्याण मार्ग का यही हैं कि इच्छा वासना रहित हो सके चाहे इस जन्म में, चाहे दूसरे जन्म में इसलिए, इसके लिए दो प्रकार के नियम भोग के हैं। एक तो है अपनी इच्छा से निवृत्ति। दूसरा है श्रद्धालु की इच्छापूर्ति। प्रथम दशा में यदि मन चाहता है मौसमी या किसी एक या सब फलों को देखकर, तो श्रद्धालु जो वस्तु लाता है उसे केवल एक बार, सारे मौसम में, खूब तृप्त होकर खा लेवे। फिर मन को कह दे—अब बस ! दूसरी विधि—यदि इच्छा नहीं होती तो अपनी भावना का हाथ स्पर्श करके, श्रद्धालु को सारा का सारा वापिस दे दे। यदि श्रद्धालु इससे सन्तोष नहीं मानता, अवश्य खिलाना चाहता है तो थोड़ा सा मात्र खा लेवे। एक फल या आधा या चौथाई या एक दो डली—शेष को फिर वापिस दे देवे या कटा हुआ फल बांट देवे। इससे इसके मन पर कभी प्रभाव नहीं पड़ सकता यदि पहले ही इच्छा नहीं थी। हम लोग जो

रोटी के अतिरिक्त ऐसे फल को जो प्रतिदिन खाते हैं, वे तो गृहस्थियों से कोई विशेषता नहीं रखती, फिर कल्याण मार्ग का साधन ही वासना रहित या इच्छा रहित कभी हो सकें—कैसे कर पायेंगें ?

——

३१-७-४६ बुधवार
१६ श्रावण २००३ वि० तृतीया (शु०)

'विविध-विचित्र सृष्टि—प्रभु की अद्भुत लीला'

प्रभुदेव तेरी क्या लीला है अद्भुत। मुझे आज रह-रहकर विचार आता है—यदि गाय घोड़ी की भी आयु मनुष्य की तरह होती और मनुष्य की तरह बीस, पच्चीस वर्ष में यौवन और बल को प्राप्त होते तो कौन इनको पाल सकता ? कोई भी नहीं पालता। परन्तु तूनें ऐसी वैज्ञानिक क्रिया की कि गाय और घोड़ी, घोड़ा दो वर्ष पश्चात् युवा और बलवान बन जाते हैं जिनके पालने और संभालने में मनुष्य को कोई बड़ी कठिनाई नहीं होती अपितु दो वर्ष की थोड़ी आयु के लालच में उनका पालन खूब करता है। तीन वर्ष में गाय दूध पिलाने लग जाती है और घोड़ा सवारी, और भारवाहन के कार्य देनें लग जाता है। जितना कार्य हम मनुष्य घोड़ों

से और गायों से दूध प्राप्त करते हैं। यदि तेरी वैज्ञानिक क्रिया उनके शरीर के अंगों में विशेष कार्य में करती होती, तो मनुष्य उनको इतना खाद्य कहां से खिला सकता। साधारण घास और पानी खा, पीकर घोड़ा कितना बलवान बन जाता है कि ४ वर्ष का घोड़ा थामा नहीं जाता और इसी घास पानी को गाय सेवन करके दूध उत्पन्न कर देती है। ऐसा अद्भुत तेरा वैज्ञानिक ज्ञान काम कर रहा है। मनुष्य का वीर्य तो, जिस पर सब शक्ति का निर्भर है, ४० (चालीस) दिन में बनता है, किंतु उनका वीर्य, बैल और घोड़े का कितना शीघ्र, तेरा विज्ञान तैयार कर देता है कि वीर्य बल का उदाहरण वेद में ऋषभ (बैल) और अश्व (घोड़ा) का ही पाया जाता है।

धन्य हो प्रभो ! यह समस्त अनाज, जिन पर सब मनुष्य मात्र निर्भर है, कितने थोड़े समय में, दो, चार, छः महीने में तू पका देता है। यदि इनको ही पूरा वर्ष लग जाता तो संसार में निर्धनता, दीनता, हीनता, के सिवा और कुछ दृष्टि में न आता। एक फसल होती या मारी जाती, तो कुहराम मचा रहता। परन्तु तेरी लीला, तेरी रचना तो, भूत, भविष्यत्, वर्तमान के चलाने के लिए विज्ञान से भरपूर दिखाई देती है। मैंने इस पर

विचार करते-करते यह परिणाम निकाला था कि जिस योनि की जितनी थोड़ी आयु निश्चित है, वह उतनी ही शीघ्र बलवान बन जाती होगी, किंतु जब पीपल और शीशम के वृक्ष पर दृष्टि पड़ी, तो यही मुख से निकला कि 'जो करता सृष्टि को साजे, आपे जाने सोये।' वृक्षों की आयु मनुष्यों से अधिक होती है, परन्तु कितना शीघ्र अपनी छाया में, सैकड़ों जीवों को सुख दिया है और अपने फल से सहस्रों पक्षियों का पालन करता है और मनुष्य का बच्चा अभी बच्चा ही रहता है। कर्म योनि से भोग योनि वाले और भोग योनि से भोग पदार्थ बहुत शीघ्र थोड़े समय में बल पक्व बन जाते हैं।

———

२-८-४६ शुक्रवार १०-३५ प्रातः

१८ श्रावण २००३ वि० पंचमी (शु०)

'भक्ति आत्मार्पण से'

धनी द्रव्य का दान करता है। लेने वाला बदले में कुछ नहीं दे सकता। ज्ञानी विद्या का दान करता है, लेने वाला बदले में कुछ सेवा भेंट करता है। परमेश्वर भक्ति का दान, नामदान देता है, किंतु लेने वाले को सर्वस्व तथा अपनापन-आत्मार्पण करना पड़ता है। यह सौदा है और खरीदना पड़ता है। बिना अपना आपा दिये, प्राप्त नहीं होता।

२. 'हृदय, मूल्य से नहीं'

ज्ञान तो दान में मिल जाता है किंतु गुण दान में नहीं मिल सकता गुण खरीदा जाता है, सिर देवें से और धारण किया जाता है। जो वस्तु बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, उसका मूल्य चुकाया जा सकता है, किंतु जो वस्तु हृदय में रखने की होगी, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकेगा इस पर सर्वस्व न्योछावर किया जावेगा।

——

४-८-४६ रविवार सायम् ५ बजे
२० श्रावण २००३ वि० सप्तमी (शु०)

'विरक्त का यज्ञ'

यज्ञ प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। कोई शरीर संबंधी परोपकार करते हैं, कोई आत्मा सम्बन्धी। धन अन्न के दान से तो जय जयकार होती है और नाम, ज्ञान-दान से नमस्कार-२ होती है। सामवेद में प्रभु का भक्त कहता है—प्रभो ! मुझे सबका नमस्करणीय बनाओ। यह उच्च भावना वानप्रस्थी अभ्यासी की हो सकती है, क्योंकि वह ऐसे अभ्यास में, आचरण में लगा हुआ है कि वह एक दिन इस योग्य हो सके। जो वानप्रस्थी एकान्त में अपने मनन और ध्यान में मस्त है और जंगली फूल फल पर निर्वाह करता है, उसकी बात तो

निराली है। किंतु जो वानप्रस्थी गृहस्थियों के अन्न से उदरपूर्ति करता है और अपने भजन ध्यान में रहता है, उस पर बड़ा दायित्व है कि साथ-साथ वह लोक उपकार भी करता रहे और ऐसा लोक उपकार जो आध्यात्मिक हो। अपने भजन ध्यान में बाधक भी न बने अपितु सहायक हो। जो गृहस्थी बच्चों के साथ उसकी सेवा में आते हैं या उस वनी का गृहस्थियों के घर पर कभी जाना बन जाता है तो बच्चों से आत्म प्रेम करने की, उसे एक लगन लगा लेनी चाहिए—जो बच्चा सामने आये, उससे हंसते-हंसते बड़े प्यार से पूछे, 'तू भी जप हवन करता है? जैसे तेरे माता-पिता करते हैं।" जहां कहीं घर पर गये और यह पता न हो कि यह गृहस्थी कुछ पाठ पूजा करते हैं या नहीं, तो तरीके से बच्चे से पूछे—"तेरे पिताजी कहां बैठकर जप सन्ध्या करते हैं? तुम्हारी माता जी भी हवन करती हैं या नहीं? तुमको कौन-कौन सा मन्त्र याद है? तुम जानते हो भगवान राम कृष्ण कौन थे?" कोई चित्र महापुरुष का लगा हो तो पूछे। 'ये कौन हैं?" जब वह कहे कि यह भगवान दयानन्द हैं या भगवान कृष्ण हैं" तो पूछे—इनसे कुछ मांगो या उनसे कहो 'हमें उपदेश दो।" यदि लड़का समझदार है तो कहेगा कि यह उनका चित्र है।

यदि अनसमझ है तो ऐसे तरीके से उसकी समझ में बिठा देवे कि उसे विश्वास हो जाय कि मूर्ति और वास्तविक में क्या अन्तर है ; कभी पूछें कि "महात्मा पुरुष की कोई बात सुनाओ।" इससे माता पिता को विशेष ध्यान हो जाता है कि वे बच्चों के कितने उत्तर-दायी हैं। बच्चों से अकेले उनके माता-पिता का बाह्य आचरण पूछना चाहिए जिससे माता-पिता का सुधार हो जावे। इससे गृहस्थियों की श्रद्धा और बच्चों की निर्भरता और प्रेम ऐसे महात्माओं के साथ बन जाता और बढ़ता रहता है। उपकार का उपकार कर्तव्य का कर्तव्य, और भजन में भी उन्नति हो जाती है। ऐसे घर में सेवक हो तो, उससे भी प्रश्न करना। तात्पर्य यह कि सबको प्रभुमार्ग दर्शाये रखना एक महान उपकार या यज्ञ है। यजुर्वेद अध्याय १४ पितरों के सम्बन्ध में ऐसा आदेश करता है।

——

९-८-४६ शुक्रवार — ५ बजे सायम्
२५ श्रावण २००३ वि० — द्वादशी (शु०)

'स्मरणीय संकेत'

सदा गर्म रहना चाहिए-गृहस्थी का चूल्हा, वानप्रस्थी का कुण्ड, ब्रह्मचारी का हृदय और संन्यासी का पैर-यह

तप है। जिस गृहस्थी का चूल्हा तपा रहता है वह गृहस्थी (सदाव्रती) लांगरी है। जिस वानप्रस्थी के अग्नि कुण्ड में दिन-रात अग्नि जगती है वह भक्त है, प्रभु का प्यारा है। जिस ब्रह्मचारी के हृदय में विद्या की सदा तड़प रहती है, वह विद्वान् बनेगा। जो संन्यासी के हित, कल्याण के लिए सदा यात्रा करता रहता है, वह संन्यासी पूजनीय होता है।

२. संन्यासी के हाथ में दण्डा, वाणी का वाण ठण्डा।

वानप्रस्थी का मस्तिष्क ठण्डा (गहरा विचारक)।

गृहस्थी का हृदय ठण्डा (बड़ी शान्ति और नम्रता से सुनने वाला)।

ब्रह्मचारी का नाम ठण्डा (जो सबको भावे, प्यारा लगे।

——

३. एक दृश्य 'सविता कैसे स्वः है।'

एक सच्चा सन्त गर्मी के मौसम में पैदल यात्रा कर रहा है। दिन चढ़ गया। गर्मी से प्यास लगी। एक बस्ती में आया। पहला-पहला जो घर था वहां से पानी मांगा। नहीं जानता था कि बस्ती हिन्दुओं की है या मुसलमानों की है। किसका घर है? अन्दर से उत्तर आया—सांई जी, पानी अगली बस्ती में पर्याप्त मिलेगा।

हम बहुत दूर से पानी लाते हैं। आठों पहर हमें पूरा नहीं होता। क्षमा कीजिए। सन्त चल पड़ा। कुछ दूरी पर अगला ग्राम आ गया, प्यास भी तीव्र थी। यहां भी जो घर अन्त में था वहां से पानी मांगा। अन्दर से उत्तर आया-बस साईं जी अब पानी के समीप आ पहुँचे। थोड़ी दूर आगे पहाड़ है खूब तृप्त होकर पानी पीजिए। हम दूर से पानी लाते हैं। गर्मी का मौसम है। एक समय ला सकते हैं। कठिनाई से काम चलता है। सन्त सुनकर चल दिया और सोचने लगा-क्या कारण ? पानी भी प्यासे को नहीं मिलता इस देश में ! इसी सोच में चलता-चलता कि चलो एक दम शहर में ही पानी पीयेंगे। पहाड़ से दृष्ठि इसी विचार में चूक गई। प्याऊ से दो चार कदम आगे निकल गया कि प्याऊ पर बैठे नवयुवक ने दोपहर देखकर अपनी रोटी की पठरी खोली। ज्यों खोली उधर सामने सन्त जाता दिखा। रोटी बन्द करके आवाज दी—हे सन्त महाराज, देवता जी ! शीतल जल पीते जाइये। साधु ने मुड़कर देखा तो प्याऊ था। नवयुवक के पास गया। युवक बहुत सुशील स्वभाव था। नमस्कार किया, हाथ धुलाये। पानी देने को था कि विचार आया। दोपहर है, सन्त को भूख भी होगी। युवक ने कहा—महाराज, कुछ खा लीजिए। यह जल पीजिये। भोजन खोला।

साधु सन्त ने देखा कि इसके अपने लिए है—कहा, अच्छा, एक टुकड़ा दे दो किंतु उसने सारा रख दिया। सन्त ने दो रोटी ले ली और दो रख दी। दो से तृप्त हो गया। जल पीकर शान्त हुआ और कहा—धन्य हो पुत्र, धन्य हो। इतना उपकार करते हो। युवक ने कहा—महाराज, धन्य तो वह शाह है जिसने प्याऊ लगाया है। सूखा है। चारों ओर पानी नहीं है। कहीं हरियावल का नाम निशान नहीं है। बस्तियों वाले बहुत दुःखी हैं। शहर से पानी ले जाते हैं और शहर में भी उस शाह ने कुंआ लगा रखा है। मैं तो महाराज, पेट का चाकर हूं, नौकर हूं। यह परोपकार उस शाह का है। साधु ने कहा—फिर रोटी तो तुम्हारी थी। युवक ने कहा—नहीं महाराज, यह रोटी भी उसी शाह के घर से आई है। मेरा तो कोई नहीं और कुछ नहीं। न घर घाट, न माँ न बाप। न सम्बन्धी स्नेही। सन्त ने कहा—पुत्र, तेरे सब हो जायेंगे और सब कुछ तेरे पास हो जावेगा। घर, घाट की परवाह न रहेगी, माँ बाप भी बन जावेंगे। तुझे बहुत लोग प्यार करेंगे। सम्बन्धी बन जावेंगे। तुम्हारा जो शुद्ध स्वभाव है, वह तो तुम्हारा अपना ही है। बुला-बुलाकर जल पिलाना, आदर करना आप भूखा रहकर, अपना पेट काटकर दूसरे पेट को तृप्त करना, यही बड़ी सम्पत्ति है, तू शाह

है, दिव्य सम्पत्ति का शाह है। युवक ने कहा—महाराज, यह गुण भी मेरा नहीं। आप जैसे सन्तों का आशीर्वाद है। (युवक था तो अनाथ, पर सन्त सेवी सत्संगी था) मैं तो दिन बिताने के लिये उत्पन्न हुआ था। मुझे कोई कैसे अपना सकता है। लोग मूर्ख थोड़े हैं। सन्त ने कहा अच्छा पुत्र, प्रभु सबके हैं। और सब में हैं। नवयुवक ने कहा—धूप है, आप विश्राम कर लें तो छप्पर के नीचे स्थान बना दूं। साधु ने कहा—यह छप्पर काहे को है! युवक ने कहा उसी शाह ने बनाया है। कि यात्रियों को थोड़ा विश्राम करने के लिए छाया हो जाय। धूप से रक्षा हो।

सन्त लेट गया और उसका रोम-रोम युवक को आशीर्वाद देने लगा। उसके गुणों पर मोहित हो गया। शहर चल दिया। मन चाहा—इस शाह के भी दर्शन करने चाहियें। शाह को पूछता चला गया। शाह ने बड़ा सत्कार किया। नमस्कार करके बिठाया। सन्त बड़ा तेजस्वी था। उसने शाह के कार्य की बड़ी सराहना की और नवयुवक की प्रशंसा की। ऐसा व्यक्ति आपने प्याऊ पर बिठाया है जो तेरे नाम को मुकुट लगाने वाला है। बड़ा सुशील, धर्म-परायण लड़का है। शाह भी सन्त की तपस्वी की आकृति देखकर और अपनी सराहना सुनकर बहुत-बहुत प्रसन्न हुआ। सन्त

की सेवा की। सन्त ने कहा—आपके यहां तो प्रभु का मंगलाचार है। कोई दु:ख तो गृहस्थ में नहीं ? शाह ने कहा—प्रभु की सब कृपा है। एक लड़की युवती हो गई है। वर नहीं मिलता। यही बड़ी चिन्ता रहती है। मैं चाहता हूं योग्य धर्मात्मा वर हो। अमीर-गरीब की चिन्ता नहीं। गरीब को तो मैं स्वयं अमीर बना सकता हूँ। मेरे पुत्र भी नहीं है। परन्तु मुझे पुत्र के न होने की चिन्ता नहीं जितनी पुत्री के लिए वर की है। सन्त ने कह—यह दु:ख भी शीघ्र मिट जावेगा। प्रभु की कृपा हो जावेगी। चिन्ता मत करो। रात्रि में सो गये। सन्त के मन में आया—फिर तो इस साहूकार को वही युवक बहुत उचित है। इसी विचार में सो गया। प्रातः चार बजे उठकर चल दिया। उधर शाह नवयुवक की सराहना सुनकर रात में प्रसन्न हो रहा था। उसे प्रातः-काल स्वप्न आया कि साधु सन्त उस नवयुवक का हाथ पकड़कर शाह के सामने लाये—देखो, जैसा तुम चाहते हो, वैसा वर है या नहीं ? शाह ने कहा—ठीक है महाराज। ऐसा ही मांगता हूं। सन्त ने कहा—फिर उसे बधाई दे दे। शाह ने स्वप्न में वचन दे दिया। जब नींद खुली तो चकित था। सन्त के स्थान पर गया। वह तो रमते राम हो गया था। शाह को चिन्ता हुई। नौकर व्यक्ति है, न घर, न स्थान। न मां न बाप। इसे

कैसे दे दूं ? फिर स्त्री से सारा जिक्र किया। स्त्री ने कहा—धर्म तो हो चुका। एक सन्त के सामने बधाई दे चुके। सन्त तपस्वी सिद्ध होंगे। वे अपना चमत्कार दिखा गये। अब देरी मत करो। गरीब को अमीर बनाने का जब कह चुके तो अब उसे लड़की भी दो, सब कुछ दो। कोई कमी न रहे। तुम्हारे तो लाखों है। यदि प्रभु पुत्र देगा तो तब भी लाखों रहेंगे। सन्त वचन अटल होता है। उसी दिन मंगनी कर दी और युवक अपने शुभ गुणों का फल पाकर सब कुछ वाला बन गया। सब प्रकार का सुख का सामान बना बनाया गुप्त रूप से मिल गया। मान सम्पन्न भी हो गया।

११-८-४६ रविवार — १० बजे प्रातः

२७ श्रावण २००३ वि० — चतुर्दशी (शु०)

'प्रेम की रहस्यपूर्ण व्यापकता'

प्रभु की प्रजा के साथ प्रेम करना सच्चा कर्म है। प्रभु के साथ प्रेम करना सच्ची भक्ति है अपनी आत्मा के साथ प्रेम करना सच्चा ज्ञान है। इस 'सच्चे' शब्द को शुद्ध भी कह सकते, पवित्र और निष्काम, निःस्वार्थ भी कह सकते हैं। तीनों में प्रेम मूल वस्तु है। प्रेम की कमी से वह कर्म या भक्ति या ज्ञान निष्काम या सच्चा

या शुद्ध नहीं रहता। आध्यात्मिक मार्ग में द्वेष सबसे बड़ा बाधक है और प्रेम सबसे बड़ा पुण्य है। सच्चे प्रेम का चिन्ह है अपने प्रीतम पर या प्रीतम के लिए सब कुछ वार देना और उसे न गिनना नहीं बल्कि गिनती न कर सकना। गिनती का विचार तक न आना। प्रेम की उत्पत्ति माता-पिता से होती है। पशुओं में माता से, और मनुष्यों में माता-पिता दोनों से। बिल्ली और कुतिया भी अपने बच्चों से कम प्रेम नहीं करते। जिन्हें चूहे के बच्चे को पकड़ने में किंचित दया नहीं, वे भी अपने बच्चों से प्रेमवश दयावान रहते हैं। एक कसाई (वधिक) निर्दयी है। दिन में सैंकड़ों पशु वध कर देता है। उसे भी अपने बच्चे से अत्यन्त प्रेम होता है। परमेश्वर हमारा माता-पिता है और माता-पिता की सबसे प्रथम दात प्रेम है। इसी प्रेम के कारण दर्शन, स्पर्शन, चुम्बन, आलिंगन, मिलाप और गोदी प्राप्त होती है और निर्भयता मिलती है। माता-पिता का प्रेम बच्चे से स्वभाव सिद्ध है। उसमें बनावट और स्वार्थ नहीं। इसलिए यजुर्वेद अध्याय १५ में कहा—

'पुनन्तु मा देवजनाः, पुनन्तु पितामहाः।'

हमें अपने बुजुर्ग— गुरु, विद्वान्, पिता, माता, दादा, परदादा आदि पवित्र करें। प्रेम बिना पवित्रता के नहीं

हो सकता और पवित्रता बिना प्रेम के नहीं हो सकती। बच्चा विष्ठा और मूत्र में लथपथ है। मां को उससे प्रेम है। झट बिना किसी सोच विचार और वस्त्रों, अच्छाई बुराई को गिने, उसे उठाकर पवित्र स्वच्छ कर देती है और जब पवित्र हो जाता है, उसे चूम-चूमकर प्रेम करती है। गाय के बच्चे के बाल बिखरे और मिट्टी से मैले हैं। गौ माता अपनी जीभ से चाट-चाटकर उसे पवित्र कर रही है। जो मनुष्य अपनी सन्तान से प्रेम करने में उपेक्षा करता है उसकी सन्तान में देश जाति, गुरु, माता-पिता, प्रभु के लिए सच्चा प्रेम नहीं आ सकता। माता के प्रेम भरे दूध की घूंटी से परमाणु तो प्रत्येक मनुष्यों में प्रेम के विद्यमान हैं, किंतु माता पिता के क्रियात्मक प्रेम से वंचित रहने के कारण वे परमाणु दब जाते हैं। उनमें सत्ता या प्राण नहीं रहता। ऋग्वेद में भी एक मन्त्र है कि माता पिता को बच्चों में खूब स्मरण करना चाहिये। उन्हें गोदी में बिठाना, कुदाना, फुदकाना, मीठी मीठी हंसी विनोद करना, उन्हें खूब कहकहा लगवाना, उनसे खेलना, इकट्ठे खाना खिलाना, गोदी में सुलाना, चूमना चाटना तात्पर्य, जो भी साधन बच्चों के प्रेम के हैं वे सब उनसे क्रियात्मक बरतना। उनके जीवन को बढ़ाना है। जो लोग केवल

खिलाते पिलाते प्यार करते हैं, वे मोह बढ़ाते हैं और जो लोग युक्ति से खेल, प्रेम, प्यार में शिक्षा भी अपनी क्रिया से देते हैं, वे प्रेम करते हैं। जो मां-बाप लड़ते और गाली-गलोच देने में अभ्यस्त होते हैं, बच्चे स्वयं उनके दोष को ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे ही उनके अच्छे गुणों कर्मों से बच्चों को अपने आप अच्छे गुण आ जाते हैं। यह तब होता है जब बच्चे मां-बाप से न डरते हो और उनकी क्रियाओं को प्रेम से देखते हों।

पूर्वकाल में सात वर्ष का बालक गुरुकुल चला जाता था। उसका यह अर्थ नहीं कि वह मां-बाप के प्रेम से वंचित हो जाता था अपितु उस युग में प्रथा ही ऐसी थी कि विद्वान् और जितेन्द्रिय प्रायः होते थे और ५० (पचास) वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थ ले लेते थे। अपना भगवद् भजन भी करते थे और बच्चों को भी पढ़ाते थे। तब उनके पास उनके पोते पहुंच जाते थे। जब बच्चा दादा-दादी के पास हो तो चाहे कितनी दूरी पर क्यों न हो, उसके माँ-बाप को किंचित् मात्र चिन्ता या बच्चों के लिए उदासी नहीं आती। न उसे देखने की या उसके समाचार की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि वे जानते हैं—अपने पितामह के पास है। वह पितामह बच्चा जब अपना है, तो कैसे पराया समझे। इस अपने बच्चे के लिए

दूसरे बच्चे भी बिल्कुल अपने सन्तान के समान मालूम पड़ते हैं। क्योंकि उसने सब में सत्य के संस्कार डालने होते हैं। वह आजकल के युग में गुरुकुलों में गुरु एक नहीं अनेक होते हैं और बच्चे भी बहुत होते हैं, उनकी संभाल और प्रेम माता पिता समान नहीं हो सकता। बच्चे गुरुकुलों में प्रेम के परमाणुओं से वंचित रहते हैं इसलिए उनको प्रेम संस्कार जागृत करने के लिए मां-बाप को पूर्णतया प्रेम करना चाहिए।

मुझे स्मरण है जब मेरा पुत्र लखपति गुरुकुल कमालिया में पढ़ता था, तो मैं जब जाता था, बस उसे देख लेता था। वह पास बैठना चाहता तो उसे कह देता—जाओ पढ़ो। इसके आन्तरिक प्रेम के उपजे संस्कारों को मेरी अज्ञानता से धक्का लगता और जब मैं वापिस होता तो उसे न मिलकर, चल देता। वह सोया होता। अपनी समझ में तो मैं ठीक कर रहा था कि बच्चे को मोह न हो जावे, उदास न हो किंतु मैं अज्ञान में था। अब समझता हूं कि मैं इसके कोमल पवित्र प्रेममय सरल हृदय को घात कर रहा था। मां-बाप को कभी बच्चों के प्रेम करने में लोक—लज्जा से या अन्य किसी कारण से, उपेक्षावृत्ति नहीं आनी चाहिए। प्रेम ही मूल वस्तु है। मनुष्य के बन्धन को स्वतन्त्र कराने के लिए। प्रेम ही भक्ति और जीवन है।

१२-८-४६ सोमवार ५ बजे सायम्
२८ श्रावण २००३ वि० पूर्णमासी (रक्षाबन्धन पर्व)

'क्रोध एक रहस्यमयी वृत्ति'

मनुष्य का क्रोध दो प्रकार का होता है। एक शत्रुता जो द्वेष की खाई को चौड़ा करता है। दूसरा प्रेम की गांठ लगाने वाला होता है। अपने स्वार्थ के लिए जो दूसरे की प्रतिकूलता से क्रोध उत्पन्न होता है वह द्वेष का रूप बन जाता है और दूसरे के परमार्थ, लाभार्थ, दूसरे की प्रतिकूलता से क्रोध आता है वह एक प्रेम जनित क्रोध होता है। असन्तोष का रोष होता है। ऐसे क्रोध से भी आना-जाना, मिलना-जुलना, पत्र व्यवहार बन्द हो जाता है। परन्तु एक आशा इसे बन्द रखती है कि प्रतिकूल या विपक्षी व्यक्ति अनुभव करे और अपनी भूल को मानकर प्रायश्चित करे। बस यही प्रायश्चित प्रेम की गांठ बन जाती है और आगे से भी अधिक प्रेम बना देती है। यह क्रोध यद्यपि आना जाना बन्द करा देता है, तदपि वह आशा एक तड़प सी, मिलने को मिलाने की, बनाये रखती है। बच्चे को मां ने वस्तु नहीं दी, उसका हित जानकर, किंतु बच्चा क्रोधित होकर रुष्ट हो गया, मां से बोलता नहीं, मिलता नहीं, मुख फुलाये रखता है किंतु यह क्रोध द्वेषवृत्ति उत्पन्न

करने वाला नहीं । चाहता है अन्दर से कि माँ मनावे । माँ जब मनाती है तो बहुत प्रेम करने लग जाता है । माँ बच्चे को काम बताती है, वह नहीं करता । माँ रुष्ट हो जाती है । बच्चा कई बार माँ को बुलाता है । वह मुख फेर लेती है । उसकी गोदी में अपने आप बैठता है किंतु वह प्यार नहीं करती । बिल्कुल परवाह नहीं करती किंतु माँ का क्रोध खाई उत्पन्न करने वाला नहीं होता । वह चाहती है बच्चा अनुभव करे । जब बच्चा महसूस करे क्षमा माँगता है, तब मां गले से लगा प्रेम करती है । यह क्रोध संसार का एक खेल है । जो पाप तो नहीं गिना जाता, किंतु आत्मिक हानि भारी कर देता है । सेवा करने वाला, सेवा से वंचित रह जाता है । उपकारकर्ता इतने दिनों तक परोपकार से खाली रहता है । तात्पर्य, जो उसका गुण दूसरों को आकर्षित करता है, लाभ देता है वह स्वयं और लोग, दोनों इस लाभ से वंचित हो जाते हैं । यही वंचित रहना या करना एक आत्मिक हानि है ।

१३-८-४६ मंगलवार
२९ श्रावण २००३ वि०

१० बजे प्रातः
प्रतिपदा (कृ०)

'आनन्द की व्याख्या'

इन्द्रियाँ और मन तो अपना आनन्द, भोग द्वारा प्राप्त

करती हैं और आत्मा को आनन्द प्रभु की भक्ति से ही मिलता है। शुभ कर्म और ज्ञान में आनन्द नहीं है। उसके फल में आनन्द है किंतु भोग के फल में दुःख है। भोग में आनन्द, भोग के फल (परिणाम) में दुःख है। भक्ति का आनन्द एक तो समाधि से मिलता है दूसरा कीर्तन से। समाधि के आनन्द का लाभ केवल सामाधिस्थ भक्त को प्राप्त होता है। कीर्तन का आनन्द समूह को मिलता है। प्रभु की भक्ति और नाम यश फैलाने का साधन कीर्तन ही उत्तम साधन है। समाधि से प्रचार नहीं होता इसलिए जो लोग प्रभु नाम का कीर्तन करते हैं वे दो फल पाप्त करते हैं—नाम भक्ति से आनन्द मस्ती और नाम कीर्तन से कर्म का फल, सब प्रकार के ऐश्वर्य, यश प्राप्त करते हैं। समाधिस्थ भक्त को भी अनेक प्रकार मंडली में बैठकर भी प्रभु कीर्तन करना चाहिये। अनेकों के साथ मिलकर गाया हुआ प्रभु भजन हमारे भीतर भावनाओं को अधिक गहरा करता है। जैसे समुदाय-हंसी आदमी को उत्तेजित कर देती है, वैसे ही समुदाय, भक्ति की भावना को भी उत्तेजित कर देता है। सायन्स का सिद्धान्त है या वैज्ञानिकों का कथन है कि हमारी भी कोई भावना उस भावना वाले व्यक्तियों की मंडली में बैठने से प्रवृद्ध हो जाती है।

जिस वस्तु का दान आकाश को दिया जाता है, वह विस्तृत हो जाता है। उसका फल बहुत होता है। जो वस्तु भूमि में जाती है उसका फल कम होता है।

——

१४-८-४६ बुधवार ९ बजे प्रातः
३० श्रावण २००४ वि० द्वितीया (कृ०)

'आर्द्र प्रभु'

कोई भी कठिनाई या कष्ट दुःख प्रभु की ओर से नहीं आता। प्रभु की कठिनाई को हटाने वाले, कष्ट विवारक, और दुःख भंजन हैं। सब कठिनाइयाँ प्रकृति उपस्थित करती है, जब उसके नियम का भंग होता है और जब प्रभु की शरण ले ली जावे तो वह कठिनाई को सुगम आसान कर देता है। जिस समय मनुष्य को प्रभु की सहायता की आवश्यकता अनुभव होती है और सच्चे हृदय से पुकार करता है,और चारों ओर से अपने बल, बुद्धि, धन आदि सब साधनों को असमर्थ पाता है और प्रभु को भी अपना परम सहायक जानने लगता है और पुकार करता है, तब प्रभु तुरन्त प्रकट होकर उसका साथ देते हैं। यह नहीं देखते कि यह पुकार करने वाला नास्तिक है, पापी है, या श्रेष्ठ। वह तो उस समय की सच्ची पुकार का फल देने आते हैं।

मनुष्य को प्रभु की आवश्यकता प्रत्येक समय अनुभव नहीं होती। हवा का मूल्य दमा के रोगी को जितना नित्य मालूम होता है उतना स्वस्थ मनुष्य को नहीं मालूम होता।

——

१७-८-४६ शनिवार ३ बजे (रात्रि)
१ भाद्रपद २००३ वि० (पंचमी (कृ०)

'विजय शान्ति'

मनुष्य विजय को ही शान्ति समझता है, इसलिए विजय के लिए प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में विजय और शांति में आकाश-पाताल का अन्तर है। विजय तो मिलती है बुद्धि और बल (धनबल, जनबल, शस्त्र-बल, वाक्बल) से। साम्मुख्य (मुकाबला) हो, मुकदमा हो, युद्ध हो। किंतु शान्ति बिना प्रभु की शरण के, आत्मिक बल के नहीं मिलती। विजय में अहंकार होता है, शान्ति में नम्रता, विनय होती है।

——

६-३० बजे प्रातः (इसका संबंध अगली ४-८-४६ से है)

'गायत्री पतितपावनी'

गायत्री को पतित पावनी कहा गया है। कैसे पवित्र करती है? गायत्री के द्वारा भक्ति करने के तीन प्रकार

है—एक गीत के रूप में, गा-गा कर मस्त होना, दूसरा जप, तीसरा मनन। इनके फल—मनन से प्रभु के गुण प्राप्त होते हैं। जप से बुद्धि तीव्र होती है, वाणी से बल आता है। गीत से पवित्रता आती है। गीत में एक शक्ति है, जो अन्तःकरण में उत्तेजना उत्पन्न करती है। भिन्न-भिन्न गीत भिन्न-भिन्न नाड़ियों द्वारा (ज्ञान तन्तुओं द्वारा) अन्तःकरण पर प्रभाव डालते हैं। सुने तो सब ही कान से जाते हैं और बोले कण्ठ से जाते हैं किंतु प्रभाव भिन्न-भिन्न है। जैसे कि, जब कोई अश्लील राग गाता है तो उन नाड़ियों में राग का शब्द प्रविष्ट होता है जो कामोत्तेजना हैं तब काम उत्पन्न होता है। जो मन्यु (क्रोध) उत्पन्न करती है, जब कोई मारु राग गाता है तो उदासीनता और जब कोई प्रभु भक्ति के भीने-भीने मधुर गान गाता है तो मस्ती उत्पन्न होती है। यह मस्ती उन सब नाड़ियों को सुन्न कर देती है जो पाप पैदा करती है और इस समय उन नाड़ियों को पाप कुवासनाओं को काटने का मार्ग मिल जाता है।

भक्ति रस का मस्त बहाव, पानी के बाढ़ की भांति कुविचारों को बहाकर बाहर निकाल देता है। इसलिए गायत्री का गीत गाने वालों को और सुनने वालों को, जो श्रद्धा और प्रेम से गायें और सुनें, यह बहुत सरल

नुस्खा, पाप से पवित्र होने का है। दूसरा दिव्य गुण सम्पन्न मनुष्यों के दर्शन, स्पर्शन समीपता से भी पाप-ताप के परमाणु दूर होते हैं। उनके पवित्र अन्तःकरण की लहरें मस्तिष्क(माथे)से नित्य झरती रहती हैं और दर्शन करने वाले के अन्तःकरण में प्रविष्ट होती रहती हैं। वह मस्ती, सुख और आनन्द जो गीत और दर्शन से अन्दर उत्पन्न होता है वही ही पाप-ताप से दूर करने का चिन्ह है।

मेरी तो न प्रभु ने स्वर साधी है, न गीत गाना आता है। किंतु जब लाला सुन्दर दास जी गायत्री का गीत गाते आते हैं, तो मैं सब काम छोड़कर प्रार्थना करते हुए भी उसे भी छोड़ देता हूं और उनके स्वर में अपने को लीन करने का प्रयत्न करता हूं। और शामिल बाजा होकर मन में गाता और सुनता हूँ। कभी-२ लाला गंगाराम जी गाने लगते हैं तो मैं मस्ती से सुनता हूँ। वायु मंडल को भक्तिमय बनाने का गायत्री गीत बड़ा उत्तम साधन है। ऐसे गाने वाले यदि इस भाव से आकाश मंडल को मधुर रस से गुंजा दें तो एक बड़े उपदेशक का काम करें बल्कि उससे भी अधिक फल मिलेगा। मैं तो लाला सुन्दर दास जी का बड़ा परोपकार मानता हूँ जब वे स्वयं मेरे मैले वस्त्र लेने

और देते आते हैं, गीत गाते हुए जहां वे मेरे तन के मैले वस्त्रों की मैल धोते हैं, वहां मेरे मन की, चित्त की मैल भी गायत्री गीत से धो जाते हैं। मेरा रोम-रोम आशीष देता है।

१८-८-४६ रविवार ४ बजे प्रातः
२ भाद्रपद २००३ वि० षष्ठी (कृ०)

१. भय से निर्भय

अकस्मात् भय नींद भय से निर्भय कर देता है। एक व्यक्ति को भजन करते या काम करते बार-बार नींद आती है। अचानक एक सांप दिखाई दिया। बस अब इस अकस्मात् भय ने नींद का भय दूर कर दिया। अब नींद नहीं आती।

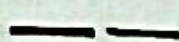
२. नींद भय से निर्भय कर देती है। एक व्यक्ति कोई भय लगा हुआ है और कांप रहा है। एकदम नींद ने घेर लिया—बस अब भय भाग गया। उसकी लीला क्या विचित्र है।

——

२. त्याग से प्रसन्नता

कोई पदवी या अधिकार त्यागने में प्रसन्नता मना रहा है और बधाई का सेहरा पा रहा है। और कोई पदवी अधिकार प्राप्त करने की प्रसन्नता में धन व्यय

कर रहा है और बधाई पा रहा है। ऐ साधक! तू दोनों के कर्म को अच्छा समझ। दोनों अच्छा कर रहे हैं।



३. प्रभु की दया'

किसान ने खेती बो कर चारों ओर बाड़ लगा दी कि मेरा किया हुआ परिश्रम सुरक्षित हो जाय। पशु न चर जायें। इससे अधिक उसके वश में नहीं। भूमि में कीड़ा लग जाय, आकाश से ओले बरसें, उसका किया हुआ परिश्रम और रक्षा सब व्यर्थ हो जाता है। प्रभु की दया की आवश्यकता अपने परिश्रम से कई गुणा अधिक आवश्यक है, ऐसे ही साधक की भक्ति के साथ प्रभु की दया अधिक आवश्यक है। साधक तो दिन रात्रि तप जप करता है, और अपना वायु मण्डल अपने अनुकूल बना लेता है. किंतु मन, चित्तरूपी भूमि के पूर्व संचित कुसंस्कार और मन की स्वाभाविक चंचलता, ये दोनों उसे निष्फल कर देते हैं। प्रभु की दया के बिना, न तो कुसंस्कार दग्ध होते हैं, न मन एकाग्र होता है। किसान और साधक भक्त दोनों प्रभु की ही करुणा पर रहते हैं।



१९-८-४६ सोमवार ७ बजे प्रातः
३ भाद्रपद २००३ वि० सप्तमी (कृ०)

'सत्य, न्याय और दया'

परमेश्वर में अनन्त गुण हैं। उनमें से जितने जीव में आ सकते हैं। प्रभु ने नमूने के रूप में पशुओं, वृक्षों में भी गुण रख दिये हैं और जड़ देवताओं में भी। परन्तु जिन गुणों से जीव पूर्ण पवित्र और प्रकाशित होकर प्रभु के दर्शन कर सकता है, और मुक्त हो सकता है। वे केवल मनुष्य ही धारण कर सकता है। वे हैं दया, न्याय और सत्य। जब तक मनुष्य ये तीन गुण पूर्ण रूप से धारण न करे, तब तब वह प्रभु के दर्शन से वंचित रहेगा। चाहे अन्य अनेक गुण उसमें विद्यमान हों। अन्य उत्तम गुणों से मनुष्य पुण्यात्मा तो कहलायेगा किंतु पवित्रात्मा नहीं कहला सकता। पवित्रात्मा तब नाम पा सकता है, जब ये उपर्युक्त तीन गुण उसमें हों।

दूसरे सब उत्तम गुण मनुष्य में देखा-देखी, सुने-सुनाये, संसर्ग से माता-पिता आचार्य की शिक्षा तथा राज शासन से आ सकते हैं। परन्तु ये तीन गुण बिना प्रभु की अनन्य भक्ति के प्राप्त नहीं हो सकते।

२३-८-४६ शुक्रवार ९-३० बजे प्रातः
७ भाद्रपद २००३ वि० एकादशी (कृ०)

'आत्मवंचना'

१. निष्काम सेवा का फल तो आत्मिक बल है और सकाम सेवा का फल प्राकृतिक बल है। परन्तु कभी दोनों ही (आत्मिक बल और प्राकृतिक बल) नष्ट हो जाते हैं। जब मनुष्य लोक में निष्काम प्रकट करता है और मन में कामना रखी होती है, फल दोनों देने वाला, चूंकि अन्तर्यामी प्रभु है, इसलिए वह किसका, कैसे, फल दे ! इसका फल बन जाता है अपने आपको धोखा–आत्म-वंचना।

सेवा में भावना भिन्न-भिन्न

२. विरले को छोड़कर, प्रत्येक मनुष्य अपने पुत्र कलत्र को या मां-बाप की इच्छा निवृत्ति या आवश्यकतापूर्ति, या सेवा, बिना किसी पुण्य या परलोक की भावना के, अपनापन जानके करता है किंतु जब इनसे अतिरिक्त किसी भी सेवा सुश्रुषा, इच्छा निवृत्ति, आवश्यकतापूर्ति की जाती है, तो अवश्य उसमें पुण्य या परलोक की भावना सम्मिलित होती है।

श्रद्धा

३. साधारण मनुष्य अपनी श्रद्धा को तब सफल समझता है जब श्रद्धेय उसकी भेंट को स्वीकार कर लेवे, अस्वीकार होने पर उसे असह्य सा लगता है। परन्तु सच्चे रूप में प्रेम करने का अर्थ यह है कि जिससे प्रेम हो उसके लिए जो कुछ 'सर्वोत्तम' हो वही करना। जिस सेवा से अहित हो जावे, वह प्रेम और श्रद्धा सच्ची कैसे ?

———

२४-८-४५ प्रातः ५।। बजे शनिवार ८ भादों सं० २००३ द्वादशी कृष्ण पक्ष।

गायत्री पतित पावनी दर्शन करावनी

वेद शास्त्र ऐसा कथन कहते हैं कि प्रभु का दर्शन हृदय की गुफा में होता है। यजुर्वेद अध्याय ३२, मंत्र ८ वेनस तत् पश्यन् निहितं गुहा संयत्र विश्वं भवत्येक नीडम्......

शरीर में हृदय का बाह्य स्थान आमाशय का खंड—वह खंड का स्थान है जहां छाती है और इस चमड़े के अन्दर गुफा तक सात परत हैं। गुफा सातवीं और खंड बाह्य पहली परत है। जप करने वाले लोग जो बैखरी वाणी से जप करते हैं आंखें मूंदे अथवा बिना मूंदे बिना किसी स्थान पर ध्यान वृत्तियां दृष्टि टिकाये

जमाये करते हैं उनकी मानो आकाश वृत्ति होती है और नाना प्रकार के विचार मन में उठते रहते हैं और जप भी वे करते रहते हैं। उनके लिए गायत्री पतित पावनी नहीं बनती क्योंकि मनुष्य का पतन अन्दर से होता है और पवित्र भी अन्दर से करना होता है। जप अन्दर से नहीं हुआ इसलिए पवित्रता भी नहीं बनती बाह्य संसारिक लाभ होता है।

(१) जो लोग उपांशु जप करते हैं और वृत्ति को हृदय की खड्ड पर टिकाते हैं। उनको दर्शन, सौन्दर्य के होने आरम्भ हो जाते हैं। वह दर्शन नेक धर्मात्मा आकृतियों का होता है क्योंकि यह परत बाह्य लोक की है मानो यह स्थान "भूः" है।

(२) जो लोग अधिक पुरुषार्थ करके इस खड्ड से भी अन्दर चमड़े के नीचे की नाड़ी में वृत्ति टिकाते हैं इन्हें अन्तरिक्ष के चमकीले और सुन्दर तारे नक्षत्र चन्द्रमा के दर्शन होते हैं मानो यह स्थान 'भुवः' का है।

(३) जो लोग इससे भी अधिक अभ्यास बढ़ाते हैं और इससे नीचे की परत में वृत्ति टिकाते हैं तो उनको सूर्य की ज्योति दिखाई देती है। यहां ओष्ठ, जिह्वा बन्द रहती है और जप होता है। इस परत पर पाप के विचारों का संग्राम होता है और भस्म करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है मानो यह "स्वः" का

स्थान है।

(४) जो लोग इससे भी नीचे गहरे चले जाते हैं और वृत्ति टिकाते हैं तब उनमें पवित्रता आने लगती है और पापों का त्याग होने लग जाता है वे अति विशाल हृदय से पाप के विचारों तक को तुच्छ समझ-कर अर्थात् धन, मान आदि, प्रलोभन आदि को तुच्छ समझकर त्याग भगा देते हैं यह स्थान "महः" का है।

(५) जो लोग फिर इससे भी नीचे की परत में ध्यान जमाते हैं तो वहाँ दिव्य, चेतन, सिद्ध, साधु, मुक्त जीवों के दर्शन पाते हैं। इनका मार्ग दर्शन भी प्राप्त करते हैं मानो यह स्थान "जनः" का है।

(६) और जो लोग और नीचे डुबकी लगाते हैं उनका जीवन तपोमय हो जाता है उनके इस तपोबल से समस्त पाप ताप अज्ञान अन्धकार अपने आप बह जाते हैं जैसे छोटे तिनके पानी की बाढ़ में बह जाते हैं। मानो यह स्थान "तपः" का है।

(७) बस आगे गुफा है 'सत्यम् लोक की जहाँ "भर्गः" के रूप में शुद्ध पवित्र तेज के रूप में भक्त को प्रभु के दर्शन होते हैं।

———

२६-८-४६ १० बजे दिन, सोमवार १० भादों
सं० २००३ वि० अमावस

धन्य हो प्रभु धन्य हो

कल लाला गंगाराम जी नें कहा कि विरक्त महात्मा सत्यभूषण जी को करांची से चिट्ठी आई है लिखा है कि मेरा पत्र अवश्य पहुँचा देना। दो मन्त्रों की समझ नहीं आई ! यजुर्वेद का स्वाध्याय कर रहा हूँ। उनकी व्याख्या लिख दें। मैंनें संकेत किया नहीं। आज प्रातः मुझे विचार आया कि पत्र तो मुझे नहीं देखना चाहिए परन्तु मन्त्रों की संख्या और अध्याय लाला गंगाराम से पूछूं। संभव है आचार्य जी ने एक नीति से कि मेरे समझाने या बचाव लाभार्थ ऐसा लिख दिया हो कि सीधा आदेश प्राप्त न करूं। अपने आप देखकर समझ जायें या हो सकता है कि ऐसा गूढ़ विषय हो कि मुझे भी किसी गुरुजन विद्वान् की शरण लेनी पड़े। समझने के लिए वेदमन्त्र का जानना तो आवश्यक है ऐसा निश्चय किया।

जब आठ बजे यज्ञ करके बाहर बैठा तो छाछ के लिए लाला गगाराम जी आये और आज उनका मौन होवे से एक अपना लिखा कागज दिया इसमें लिखा था कि विरक्त महात्मा अध्याय २५ मन्त्र ३६–३७ के

बारे में लिख रहे हैं कि इनका अर्थ और भावा समान नहीं। समझ नहीं आता कि कैसे ऋषि ने किन शब्दों के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि घोड़े आदि उपकारी पशु-पक्षियों का मांस नहीं खाना चाहिये। जो खावे उसको दण्ड दिया जाना चाहिये और मनुष्यों को मांस नहीं खाना चाहिये। मन्त्र ३६ में शब्दार्थ में निकृष्ट देखना व पात्रों के शिक्षा किये हुए प्रसिद्ध पदार्थ तथा बढ़ाने वाले के घोड़े को सब ओर से सुशोभित करते हैं व सब स्वीकार करने योग्य हैं और मन्त्र ३७—ऐसी क्रिया से सिद्ध हुए वेगवान घोड़े को प्रीति से ग्रहण करते वह चमकती हुई बलटोइमत··· इनसे कैसे भाव निकल आये कि मांस नहीं खाना चाहिये ? मैंने धन्यवाद किया कि प्रभु ने अपने आप प्रेरणा लाला गंगाराम जी से कर दी। मैं तो उन्हें इन्कार कर चुका था। फिर मैंने वेद में इन मन्त्रों को देखा और यही समझा कि विद्वानों और ऋषियों की बुद्धि बहुत दूर तक पहुंचती है और न्याय के सिद्धान्तों से किसी बात को पूर्ण और स्पष्ट करने के लिए अलंकार या तात्पर्य दर्शाया करते हैं जैसे शब्द तो है ये—कि बुजुर्गों का आदर करना पुण्य है और फल में आशीर्वाद शाबास मिलती है इसको स्पष्ट और पूर्ण करने के लिए साथ जोड़ दिया कि जो बड़ों का आदर

नहीं करते या तिरस्कार करते हैं वे पापी हैं। और उनको धिक्कार मिलता है। ऐसे ही इन मन्त्रों से मांस न खाना और दण्ड देना पाया जाता है। फिर मैं अपने जप और स्वाध्याय में लग गया।

साढ़े दस बजे जब भोजन लाला गंगाराम जी ने मेरे सामने रक्खा और मैं भोजन करने लगा ईश्वर जाने आज भोजन में लाला गंगाराम जी ने क्या लाग लगा दी "श्रद्धा भर दी" कि मेरा हाथ और मुख तो भोजन में है परन्तु मेरा अन्तःकरण इन मन्त्रों के शब्दों में घूम रहा है। अकस्मात् प्रभुदेव ने ऐसा दृश्य सामने खड़ा कर दिया जो मन्त्र के शब्द-शब्द की साक्षी देने लगा मेरी तो प्रसन्नता की फिर कहां सीमा ? गद्‌गद् प्रभु का धन्यवाद किया।

दृश्य 'मांस भक्ष निषेध और मांसाहारी को दंड"

एक राज नगर के बाहर मैदान में घोड़ों के सौदागरों ने डेरा डाला हुआ है। अच्छी-अच्छी नस्ल के घोड़े साथ हैं। सामान उठाने के लिए भी टट्टू अच्छे और निर्बल बंधे हुए हैं। नौकर-चाकर कुत्ते रक्षा के लिए भी साथ हैं। यात्रा की छुबलदारियों और खेमे भी लगे हुए हैं। रसोई के लिए सामान बर्तन नौकर भी हैं। रात्रि की रक्षा और मच्छरों से बचाव के लिए धुआं चारों ओर अग्नि का प्रबन्ध है। मंत्र ने अपना चित्र खींचकर सब कुछ दर्शा दिया। इनसे पिछले अध्याय २४ में समस्त पशुओं, पक्षियों और सब

चौपायों के गुणों का वर्णन है। उनसे लाभ लेना चाहिए। और इस २५ अध्याय का ३५ मन्त्र घोड़े के मांस खाने वाले के सम्बन्ध में हैं। ये चार्वतो माँस-भिक्षामुपासता......जो घोड़े के मांस के मांगने की उपासना करते हैं अर्थात् खाना चाहते हैं वे राजा आदि श्रेष्ठ मनुष्यों को रोकने चाहिये, उन्हें दूर भगाना चाहिये ... इसकी व्याख्या के लिए पूरा आदेश अगले मन्त्रों ३६-३७ में कर दिया कि राजा और मनुष्यों को चाहिये कि जब ऐसे सौदागर घोड़े खरीदने के लिए आये देखें तो उनकी जांच कर लेवें कि संभवत: ये लोग हमारे राज से हमारा उपकारक पशु आदि नाश करने के लिए, अपने खाने और मांस चमड़ा के व्यवसाय के लिए तो नहीं ले जा रहे तो उनकी जांच की विधि लिखो। मांस या तो अग्नि में भूना जाता है या बलटोई आदि बर्तनों में पकाया जाता है। अग्नि से धुंआ दुर्गन्धयुक्त और शब्द तड़ातड़ अग्नि से उठता है तब ज्ञात हो सकता है कि ये लोग मांस खाते हैं, या बलटोई में पकाया जावे तो ढकने और बर्तन से दुर्गन्ध आयेगी उसके सूंघने से पता लग जायेगा कि मांसाहारी हैं। यदि घोड़ों के बढ़ाने वाले, उनकी वंश की वृद्धि करने वाले, पालना करने वाले हैं और घोड़ों की आकृति चलन स्थान से शोभा प्रतीत होती है तो वे सौदागर सत्कार के योग्य हैं। यदि मांसाहारी है और मांस के

लिए व्यवसाय करते हैं तो राजा उनको दण्ड देवे या अपनी राजधानी से बाहर निकाल देवे। इसलिए वेद ने साधारण लोगों (मनुष्यों) को खुला आदेश किया कि मांस नहीं खाना चाहिये।

ओं मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा......

मन्त्र-३७ में धुंआ की गन्ध अग्नि से शब्द और बलटोई में मत पकावे ये शब्द स्पष्ट आये जाँच के लिए। ऐसे सौदागरों को—

१. अभिविक्त-तुम सब ओर से जानों।

२. मात्वा धूम गन्धि:—इसके धुंआ में गन्ध मत हो

३. मा त्वाग्नि ध्वंनयीद—मत हो शब्द अग्नि में जिसका।

४. मा उत्वा भ्राजन्ति जघ्रि:—चमकती हुई शुद्ध बलटोई को सूंघो मत दुर्गन्ध आये इसमें।

१. दूर से ही धुंआ में कपाल पकने की दुर्गन्ध प्रतीत होगी। यदि धुंआ न डाला होगा।

२. तो आगे डेरा के इर्द-गिर्द अग्नि में सलाखों पर भून रहे होंगें। यदि वहां भी न हो।

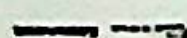
३. तो फिर बर्तनों बलटोई मांजी हुई में मांस पका रहे होंगे। इसलिये तीन प्रकार लिखें।

२७-८-४६, ५॥ बजे शाम मंगलवार ११ भादु एकम् शुक्लपक्ष

"प्यारी वस्तु'

स=इन्द्रियों को सौन्दर्य सुगन्ध स्वाद सुरीली बोली आंख नाक जिह्वा कान अच्छी लगती है और आत्मा को संध्या स्वाध्याय सत्संग सुदान सुकर्म सुसंस्कार प्यारे लगते (उन्नत करते) हैं।

मन को समाज संगठन सहेली सखा सरदारी समागम भाते हैं। शरीर=सुडौल सीधा सेहतमंद सुन्दर सुहावना लगता है।



३०-८-४६ शुक्रवार १४ भादु चौथ शुक्लपक्ष ९ वजे प्रातः

"प्राणायाम और शान्ति"

जो लोग शांति चाहते हैं और बाह्यमुखी रहते हैं, अच्छे कर्म करते हैं परन्तु प्राण उनके गति स्वतन्त्रता से करते हैं वे खुशी या हर्ष को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु शांति को नहीं। खुशी या हर्ष का साधन तो बाहर से मिलता है मगर शांति का अन्दर से। परन्तु वह बिना प्राण अचंचल किये नहीं मिल सकती।

सिद्धांत—जो काम प्राणों की गति के साथ पूर्ण होते

हैं उनमें शान्ति नहीं मिलेगी और जो काम प्राणों के स्थगित करने पर होते होंगे उनसे शान्ति मिल सकेगी।

(२) यजुर्वेद अध्याय २६ मन्त्र १४ का रूप

प्रत्येक मनुष्य दो उद्देश्यों में से एक उद्देश्य को सन्मुख रखकर जीवन बनाता है—मुक्ति या भुक्ति। परन्तु जब तक भुक्ति से तृप्ति नहीं हो लेती तब तक मुक्ति की साधना स्थिर नहीं हो सकती और भुक्ति की तृप्ति भी उस विरले मनुष्य की होती है जो भुक्ति का ज्ञान रखता है। जब तक मनुष्य अन्याय और अहंकार से भोग प्राप्त करता रहता है तब तक जन्म जन्मातंर के चक्कर में भुक्ति की लालसा फंसाये रहती है और जो लोग न्याय और विनय से कमाते खाते खिलाते और परोपकार में अपनी कमाई को लगाते हैं उनकी तृप्ति का साधन उत्तम जन्म, श्रेष्ठ पदार्थ, विद्वान् पिता, विदुषी माता, और विद्वान् गुरु की सेवा प्राप्त होती है। जिस जन्म में ये पांच साधन मिल जाते हैं वह राज के महान् सुख को प्राप्त करता हुआ मुक्ति की ओर पग को बढ़ाता है। धन सम्पत्ति या राज तो कई एक जन को प्राप्त है परन्तु विनय और न्याय से उपयोग किसी भाग्यशाली का होता है। गरीबों दीन-दुखियों को बांटकर खाना तो न्याय है विद्वानों की सेवा

अज्ञान नाश के लिए विद्या वेद का प्रचार, यह विनय है। और यज्ञों द्वारा प्राणिमात्र का सुख वर्द्धन और शिल्प यज्ञ द्वारा गरीब दीनों का सामर्थ्यवान् करना, श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति और तृप्ति का साधन है। ऐसे लोप यदि निष्काम भाव से जीवन पर्यन्त परोपकार में लगे रहते हैं तो आगामी जन्म में राजपद प्राप्त करते हैं अथवा मुक्ति। यदि निष्काम भावों में सात्विक वृत्ति रहती है और यहां ही शांति प्राप्त होती है, चित्त बुद्धि स्थिर रहते हैं तो मुक्ति की समीपता है यदि निष्काम भाव में रजोगुण वृत्ति हो जाती है तो राज-पद की प्राप्ति होती है। यदि निष्काम भाव में तमो-गुणी वृत्ति हो जाती है तो राक्षसी राज की प्राप्ति होती है। ऐसे निष्काम करने वाले को प्रजा चाहने और मान देने लग जाती है। उसके नाम की यह प्रसिद्धि (ख्याति) नहीं परन्तु उसके नाम के प्रताप से होता है। यदि वह भाग्यशाली मनुष्य प्रजा से मान मिलने की इच्छा करता है या कुछ प्रयत्न करता है तो समझो वह अपने काम को बेच देता है। उस मान को स्थिर रखने के लिए अथवा बढ़ाने के लिए वह प्रजा व साथियों के अधीन हो जाता है और अगले जन्म में भी वह उस राजपद या मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि मान की चाह और आधीनता दोनों धर्मकार्य के बढ़ाने

में बाधक बन जाती है और धर्म कार्य के न बढ़ने से वह फल पूर्ण नहीं मिल सकता। यदि ऐसा भाग्यशाली बिना किसी अपने मांग या चाह या प्रयत्न के प्रभु प्रेरणा से बिना प्रयत्न प्राप्त कर पाता है तो ये पाव या अधिकार प्रभु की ओर से इस शुभ कार्य का पारितोषिक (भूंगा) है। फिर वह भाग्यशाली उस मान अधिकार को अपने लिए मुख्य नहीं समझता उसे गौण रूप से निभाता है और मुख्य लक्ष्य निष्काम परोपकार जो उससे प्रभु करा रहे वे उनमें और अधिक बढ़ जाता है। जब भी अपने मान अधिकार को अपने मुख्य लक्ष्य में किंचित् मात्र भी हानिकारक समझता है तो वह उसका ऐसे त्याग करता है जैसे शौच और मूत्र को मनुष्य त्याग करता है। उदाहरण—एक मनुष्य धर्मात्मा है। अपनी आय को उपरोक्त रीति से निरन्तर परोपकार में लगाता है तो अनिवार्य है कि जनता उससे उपकृत होकर उसका मान करे और उसे ऊंचा से ऊंचा पद दे, यह तो है जनता की कृतज्ञता। यदि जनता के चतुर व्यक्ति उसे मान और पद इसलिए देवें कि ऐसे उच्च व्यक्ति को अगुवा बनाकर एक पार्टी बना लेवें नगर के कल्याण उन्नति का नाम देकर तो वह ऐसे साधन बर्तेंगे जिससे परोपकारी मनुष्य उनके आधीन रहे। निष्काम परोपकारी लोग साधारणत: सरल स्वभाव होते हैं वे ऐसी गहराई तक नहीं जाते क्योंकि उनका काम बिना किसी मतभेद और लाग लपेट के

होता है। इन्हें परोपकार के कार्य में बहुत सोचने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनका प्रेरक स्वयं प्रभु होता है। पार्टी की सम्मति से किये कामों में भेदभाव, राग द्वेष अवश्य उत्पन्न हो जाता है। अहम् भाव की प्रबलता हो जाती है तब मनुष्य की वह सर्वप्रियता न रहने से परोपकार के कामों में बाधा पड़ती है तो दुःख उत्पन्न होता है। जिस वस्तु का परिणाम दुःख हो वह कार्य अवश्य पाप होता है। इसलिए परोपकारी मनुष्य को इस विष से सावधान रहना चाहिये।

राजपद की अपेक्षा मेम्बरी या प्रेसिडेंट का पद या अवैतनिक मजिस्ट्रेटपन या रायसाहब आदि की पदवी तुच्छ वस्तु है। हां सिर्फ समय की अवधि है कि ये अब वर्तमान में मिलती हैं। वह राजाधिराज पद आगामी जन्म में होगा। विरोध से या प्रयत्न से प्राप्त किया हुआ मान या अधिकार पद हिंसात्मक होता है। जिस काम में दूसरे की हिंसा हो अपने स्वार्थ के लिए वह परमार्थ को निष्फल या विफल निर्बल कर देती है। प्रेम यज्ञ कार्यों को बढ़ाता है। और हिंसा यज्ञ का नाश करती है। सरकारी राज सम्मान पद अधिकार बाह्य सुधार तो कर सकते हैं वो भी जनता की जेब से निकालकर परन्तु धर्म परायण लोग मनुष्य को मनुष्य

बना देते हैं। बिना किसी व्यय कराये के, सुधार और सेवा तो दोनों करते हैं परन्तु यथार्थ सेवा तो मानव को मानव बनाने में है।

३१-८-४६, २॥ बजे प्रातः शनिवार

१४ भाद्र ५ वीं शुक्लपक्ष

"रामाश्रय"

माध्यमिक कक्षा (मिडिल कोर्स) की पुस्तक में एक कविता थी Dont trust in human eyes. अर्थात् मानवीय दृष्टि पर भरोसा (विश्वास) मत करो। सचमुच मनुष्य में आत्मिक निर्बलता इतनी अधिक है कि वह ईर्ष्या राग द्वेष से इतना भरपूर है कि घड़ी में यह खुश होकर सन्मान दे रहा होता है। सरदारी की पगड़ी सिर पर बांध रहा होता है और घड़ी में नाराज हो जाने पर वही पगड़ी पर जूतियां लगा रहा होता है। जो मनुष्य परमेश्वर, अपने सच्चे दाता के प्रति कृतघ्नता करता है जिसने कोई स्वार्थ और प्रतिकार नहीं लेना, तो एक मनुष्य साधारण जो स्वार्थ रूप है और हर समय अपने लिए दूसरे का त्याग चाहता है इसकी मित्र दृष्टि पर क्या विश्वास हो सकता है। न जाने किस क्षण अपना स्वार्थ पूरा न होने पर शत्रु बन जावें।

इसलिए प्रभु की दात और देन पर सदा सन्तोष और विश्वास रखने वाला मनुष्य निश्चिन्त रहता है।

(२) अकस्मात् मेरा ध्यान बड़े गांव की कमेटी की मेम्बरी पर गया और शीघ्र हंसी आ गई कि सरकारी परिभाषा में मेम्बरों को सिटी फादर (City father) कहा जाता है। जब वह पिता एक बार लोगों ने स्वीकार कर लिया है तो फिर क्यों दूसरी बार नये पिता बनाते और चुनते हैं। हमारी जाति के लिए कितनी लज्जा की बात है कि नये-नये पिता बनाने में बहुत प्रसन्न होते है। आज से ४०–५० साल पहले अच्छी रस्म थी कि सरकार स्वयं ही अपने हित-चिन्तिकों को ही सिटी फादर मेम्बर बनाया करती थी और फिर वे अपनी आयु पर्यन्त सीटी फादर्ज बने रहते थे। हर चुनाव पर उन्हीं को ही फिर मुकर्रर कर देती थी। जब कोई मर जाता तब नया बाप नगर का बनाती।

२-६-४६ १० बजे सुबह सोमवार १७ भादु सप्तमी शुक्ल पक्ष

"होनहार विरवान् के चिकने-चिकने पात"

कल प्रातः को गाड़ी प्यारे हरगोपाल जी अहसानपुर

से आये। और आज प्रातः वापिस जाना था ३०-८-४६ (२) का नोट ला० गंगाराम जी ने पढ़ा तो मुझसे पूछा इसकी एक नकल ला० गणेशदास जी कुकड़ेजा को भेज दूं वह कोट अद्द में हैं। इसलिए मेरी सम्पत्ति से उन्होंने नकल और अपना पत्र हरगोपाल जी को दे दी। आज हरगोपाल और गणपति दोनों प्रातः की गाड़ी चूक गये और कोट अद्द से सेठ उत्तमचन्द जी व ला० केवलराम जी खत्री पधारे। लस्सी पिलाते समय ला० गंगाराम जी ने उनके भोजन के लिए पूछा तो मैं समझा वे भी ला० गणेशदास जी की मेम्बरी के लिए आये होंगे। जैसा उनके प्यारे भाई सेठ ला. गणेशदास जी, ला. चेतनदास जी पिछले सोमवार पधारे थे। अब मैं सोचने लगा—उनका पधारना, शर्मसार करना या अपना कष्ट सफर सहना है। ये लोग वस्तुतः उसके शुभचिंतक मित्र हैं और मैं भी उसका शुभचिंतक हूं। अन्तर इतना है कि ये केवल शुभचिंतक हैं और मैं आगे को भी शुभ कामना या सोचने वाला हूं। ये उसके मित्र हैं मुझे वह पिता मानता है। तो एक दृश्य सामने दृष्टांत रूप से समझाने के लिए आया—

एक कमिश्नर साहब के मिलने वाले महानुभाव थे और साहब का उन पर बड़ा विश्वास था। अपने सब

निजी कार्य उनके द्वारा करवाते थे। उस महानुभाव का एक पुत्र भी था जो बहुत होनहार था–पढ़ता था। वह चतुर होने के साथ बहुत बुद्धिमान था और पिता के साथ सब अफसरों के पास मिलने-जुलने जाया करता था। अधिकारी लोग उस लड़के का भी आदर करते प्यार देते कुर्सी पर बिठाते। कमिश्नर साहब तो उस बच्चे पर बहुत प्रसन्न थे। लड़का मैट्रिक पास हो गया प्रथम नम्बर आया। प्रसन्नता से दौड़ा हुआ साहब के पास बधाई देने चला गया कि मैं प्रथम रहा हूं। साहब ने सोचा मेरे मित्र का पुत्र है बिना उसके कहे मैं उसकी सेवा, ईमानदारी बदले में इसका नाम नायब तहसीलदारी में लिख दूं। उस लड़के से कहा–हम तुम्हारा नाम नायब तहसीलदारी में अंकित करना चाहते हैं अपने पिता से कह देना और कल आवेदन पत्र लेआना। लड़का तो बहुत प्रसन्न हो गया वह तो अफसरों को शासन करते देखता था। सैकड़ों लोग उनको नमस्कार (सलाम) करने वाले, आगे-पीछे खुशामद करने वाले होते थे। घर गया और पिता से कहा–पिता ने कहा-पुत्र हमें नायब तहसीलदारी नहीं चाहिए।

"खुशी का नाम गमी का प्याम"

(२) कोई कह रहा है मेरे गले में बला न मढ़ो।

उत्तर मिलता है वह बला नहीं ढोल है। जब आप गले में डालेंगी तब खूब बजेगा। आपकी एक चोट बहुत दूर तक ध्वनि निकालेगी। विवाह में कैसी खुशी से इसके बजने पर लोग नाचते हैं। ढोल रंगीन था गात्र भी बहुत सुन्दर थे दिल ललचा गया पहन लिया। अब जहां विवाह में बजकर खुशी देता था एक दिन मृत्यु शोक में भी बजने लगा और लोगों की आंखों से आंसू बहाने लगा। ज्यों-ज्यों बजता हाय-हाय का स्यापा शोर करता। रोने की ध्वनि आती कलेजे निकाल लेती। पूछने लगा अरे ढोल तू क्या कर रहा है ढोल ने कहा तू तो आप कहता था कि यह बला मेरे गले में न मढ़ो मेरे सौन्दर्य को देखकर ललचा गया। मैं तो सचमुच बला हूं जो खुशी का साधन होता है वही गमी का निमन्त्रण होता है।

११ बजे प्रातः

अमृत भोजन की महिमा

जब लाला गंगाराम जी ने अतिथियों के भोजन के लिये पूछा तो मैंने कहा आलू बना देवें तो वे लौट आये कहा आलू थोड़े हैं सुहांजना बनाऊं ? मैंने कहा नहीं, शुष्क वस्तु है, कड़आ न बन जावे। अपनी कुटिया की सब्जी अभी फल लगा रही है। शहर में भी अभाव है

और आने जाने में बहुत समय लग जायेगा दाल चढ़ा आये। मुझे अच्छा न लगा कि अतिथि क्या कहेंगे।

ग्यारह बजे जब भोजन के पास लाये और मैंने दाल को मुख लगाया, प्रभु का बार-बार धन्यवाद गाने लगा कि ऐसी दाल ला० गंगाराम जी से कभी न बन सकी। शायद हरगोपाल जी ने बनाई होगी उसे आशीर्वाद देता रहा और प्रभु का गुनगान करता रहा। दाल तो कहती थी तेरा मुझसे बहुत प्रेम है तू बार-बार प्रधान जी (महाशय मथुरादास जी) के घर की दाल का प्यासा रहता है। अब तेरे अपने घर बनी है खूब खा, परन्तु आत्मा कहती है अब बस जो तेरे भाग में आ गई उसी पर सन्तुष्ट रहना चाहिए। मैं किसी भी वस्तु को जिह्वा के स्वाद की खातिर नहीं खाता, नहीं मांगता कोई भी चीज जो मुझे स्वादु लगती है तो एक-एक ग्रास में बार बार प्रभु का गुण मुझसे गवाती है और बनाने वाले लाने वाले को भी कई बार शुभ आशीष दिलाती है। मानो मेरे भजन के समय से इस समय बहुत अच्छा भजन बन जाता है। और जो वस्तु स्वादिष्ट न हो तो मुझे उससे घृणा तो नहीं होती उसे भी आदर से खाता हूं किंतु प्रभु गुणगान नहीं होता। वेद में भी आया— वस्तु ऐसी स्वादिष्ठ बनाओ जो अमृत बन जावे। ऐसे

बने हुए भोजन पदार्थ से न केवल खाने वाले को लाभ होता है परन्तु उससे अधिक फल बनाने वाले को होता है।

३-९-४९ ५ बजे सायं मंगलवार १८ भादु अष्टमी शुक्लपक्ष

'शुद्धि क्रिया"

यजुर्वेद के छठे अध्याय में आचार्य गुरु अपने ब्रह्मचारियों को किस प्रकार पवित्र बनाने की क्रिया करे। ब्रह्मचारी का प्रवेश, उसके माता-पिता की आचार्य से प्रार्थना, भेंट, भाई, बहनों, रिश्तेदारों की अनुमति, आचार्य की स्वीकृति और पाप बंधन से छुड़ाने की प्रतिज्ञा आदि मन्त्र ८–९ में आई और क्रियान्वित कैसे किया जाय–मन्त्र १४-१५-१६ में आया इसमें दो प्रकार की शुद्धि-शारीरिक शुद्धि से नीरोगता और ज्ञान इन्द्रियों कर्मेन्द्रियों की व्यवहार शुद्धि से मानसिक पवित्रता का वर्णन है।

'ओं वाचते शुन्धामि……चरित्रं ते शुन्धामि' ॥१४॥ तब गुदा उपस्थ इन्द्रिय नाभि की शुद्धि कैसे की जाय कि उनमें रोग पैदा न होने पावे और वाक् प्राण चक्षु श्रोत्र की शुद्धि कैसे की जावे कि मानसिक विकार पैदा न हो। ये सब क्रिया रूप से बच्चों को सिखाना और अपने सामने क्रिया कराना आवश्यक है। इसमें कुछ विशेष समय नहीं लगता नित्य की स्नान क्रिया है

और स्वयं करते हुए कराते और देखने मात्र का काम है। पहले गुदा मूत्रेन्द्रिय और नाभि में होने वाले रोगों का ज्ञान बच्चों को करा देना चाहिए और उनके भयंकर परिणाम। जब बच्चों को ऐसा रोग भयंकर प्रतीत होगा तब उनको मन से उसके इलाज का ख्याल रहेगा। जल उन तीनों की शुद्धि का बड़ा साधन है। जल चिकित्सा के विशेषज्ञ लिखते हैं कि स्नान सूर्य उदय से पहले का लाभदायक है। जाड़ों में दस-पन्द्रह मिनट गर्मियों में तीस-चालीस मिनट। शरीर के सब स्थानों को नाभि और सीना फेफड़े और गर्दन माथा और पीठ को विशेषकर खद्दर के कपड़े से खूब रगड़ना चाहिये। अपने आप बिजली पैदा हो जाने से इन सब स्थानों के रोग पैदा न हो सकेंगे। आमाशय की क्रिया बुद्धि और स्मरण शक्ति और आंख की ज्योति बढ़ाने और सिर के रोग दूर करने के लिए पहले मुंह धोकर मुंह में थोड़ा पानी रखकर आंखों, माथे पर ठंडा जल (ग्रीष्मकाल में) अथवा ताजा जल (जाड़े में) खूब छिड़कना छींटे देते रहना या नल की धारा के नीचे सिर रखना। पेशाब (लघुशंका) के समय जल साथ ले जाना और पेडू पर जल के छींटे देते रहना इससे वीर्यपात जरयान लकोरिया का रोग नहीं होता और दूर होता है। गुदा में शौच की निवृत्ति और जल

शुद्धि के पश्चात् धनेश क्रिया करने से बवासीर से बचाव होता है। तात्पर्य अध्यापक गुरुजनों को ऐसा विशेष अध्ययन करने से अधिक ज्ञान हो सकता है।

"सुनीति"

(२) अंग्रेज जाति, जो हमारे राजा हैं, उनकी नीति है Divide and rule (conqure) अपने समान की शक्तियों में फूट डालो और स्वयं संगठित रहो तब जीत है परन्तु हमारी दशा आपस में फूट डालने की है मित्र भी शत्रु बन जावें। पंचतंत्र नीति से भरा पड़ा है नीति बर्ती ही इसलिए जाती है कि अपना स्वार्थ सिद्धि हो परन्तु धार्मिक लोग सुनीति वर्तते हैं। जिससे धर्म और मर्यादा की रक्षा हो। वे अपने या दूसरे के लाभ या स्वार्थ को दृष्टि में नहीं रखते। सुनीति से की हुई धर्म रक्षा कभी हिंसक नहीं होती न द्वेष बढ़ाती है। आजकल तो सरों में अपने अन्य लोगों में फूट डलवाने वाली वस्तु तो कमेटियों की मेम्बरी और पद अधिकार है। सभा सोसाइटी तथा कमेटियों में जहां भिन्न-भिन्न व्यवसाय के व्यक्ति हों कभी एक मत नहीं बन सकता जब तक वे अपनी व्यक्तित्व धर्म रक्षा के लिये मुख्य न समझते हों। उदाहरण—एक कमेटी है उसमें तीन

अच्छे और २ बुरे और एक मिश्रित गुण वाला है। अब तीन अच्छे यह चाहते हैं कि दूसरे तीन को बिल्कुल निकाल दिया जावे और नये तीन अपने अनुकूल अच्छे विचार के बनाये जायें। भाव तो उनका अच्छा है परंतु नीति दोषयुक्त है। चाहिये यह कि मिश्रित वाले को तथा दो बुरों में से जो बहुत बुरा है और जिससे लोग डरते हैं और उसकी शक्ति और पद भी बढ़ा हुआ है इन दोनों को न छेड़ें परन्तु जो कम बुरा है, उन दोनों की सम्मति से उसे निकाल दें। और अच्छे को खड़ा कर दे अब कमेटी में चार अच्छे और एक बुरा और एक मिश्रित हो जावेंगे तो प्रधान पद जो पहले बहुत बुरे की है उसे हटाया जावे तो मिश्रित गुण वाला अपने आप चार अच्छों के साथ मिल जावेगा सबसे अच्छा आदमी प्रधान पद को प्राप्त कर लेगा और इस सुनीती से न फूट पड़ेगी न अन्याय होगा। धर्म की रक्षा भी हो जायेगी। स्वार्थ भी सिद्ध हो जावेगा। यदि वह बुरा मनुष्य अपने आपको बड़ा समझता होगा तो मेम्बरी में निरादर समझकर अपने आप त्याग पत्र दे देगा अथवा साधारण बिना शक्ति का मेम्बर रह जावेगा।

———

४-९-४६ चार बजे सायं बुधवार १६ भादु अष्टमी शुक्लपक्ष

सुख का बीज सेवा है शान्ति का बीज ज्ञान। माँ पुत्र की सेवा करती हैं पत्नि-पति की सेवा करती है यहाँ से है सेवा का आरम्भ। निर्धन गरीब माँ के पास बच्चे के शरीर की पुष्टि के लिए प्रचुर सामग्री नहीं होते हुए भी उसकी दया की पुष्टि, मुख प्रेम से चूमना, करुणामय हाथ को पीठ पर फेरना और छाती से लगा गोदी की लोरी देना बच्चे को पुष्ट सन्तुष्ट कर देता है और इसके शरीर में शुद्ध रक्त उत्पन्न करता है और जीवन देता है। पत्नी अपने पति को सिर का मुकुट जानकर अपना प्राणनाथ समझती है। पति गरीब है आमदनी कम है तब भी पत्नी उसकी सेवा करके उसे सुख पहुँचाने में अपने जीवन की सफलता समझती है। पति के पास जीवन सामग्री न्यून पाते हुए भी उस पतिदेव के संग और सहवास और इसकी ही प्रसन्नता में बड़ी सन्तुष्ट रहती है। उसे अपने शरीर पोषण और भूषण वस्त्र भूल जाते हैं। जब वह अपने पति को अपने पर प्रसन्न पाती, देखती है यही उसका पतिव्रतापन या पतिव्रत धर्म पालन है। माँ और पत्नी के लिए अपने बच्चे और पति के लिए यही ममत्व का त्याग है। जो नारी अपने प्राण पोषण की अधिक चिन्ता रखती है और पति के सुख असुख की चिंता मन में नहीं रखती

वह आसुरी वृत्ति की बांदी है। वह दैवी वृत्ति की स्वामिनी नारी या धर्मपत्नि नहीं बन सकती। उसे देवी नाम ही इसलिए दिया गया है कि उसमें आसुरी वृत्ति का अपने पति इष्ट देव के लिए त्याग हो। गरीब घरों के अन्दर पति-पत्नि गृहस्थी व माता-पिता सन्तान पोषण सामग्री को स्थान पर आपस का प्रेम अधिक रखने से अधिक दृढ़ हृष्ट पुष्ट देखे जाते हैं। स्त्री जाति का दान पुण्य जप तप यज्ञ परोपकार से बढ़कर पति सेवा, पति प्रसन्नता पति के आशीर्वाद ही है। क्योंकि पत्नि का एक ही व्रत है पतिव्रता होना। ये व्रत सफल हो सब धर्म कार्य सफल क्योंकि इसका सब प्रकार का दान और यज्ञ पति की कमाई के आश्रित होता है। केवल जप तप ध्यान इसके अपने आश्रित है। परन्तु उसकी सफलता भी पतिव्रत धर्म पालन पर निर्भर है। पति-पत्नि को बिना लाचारी पृथक रहने की आज्ञा नहीं है।

——

५-६-४६, ५ बजे प्रातः वीरवार २० भादु ६ वी शुक्लपक्ष

सेवा अनेक प्रकार की और असंख्य है। झाड़ू देने से लेकर विद्या ज्ञान देने तक का नाम सेवा ही झाड़ू देने वाले को तो कोई नमस्ते भी नहीं करता परन्तु

विद्या ज्ञान देनें वाले के लोग चरण स्पर्श करते हैं क्योंकि यह सेवाओं में अति श्रेष्ठ सेवा है।

परमेश्वर का निज काम निज दान है बाकी सब सेवायें भी ईश्वरी काम है परन्तु कहने और बोलने में परमेश्वर के यन्त्रों का नाम लिखा जाता है—परमेश्वर का आवश्यक नहीं। उदाहरण—हम कहते हैं पृथ्वी का कितना बड़ा उपकार है कि हमें अन्न वस्त्र जल और सब खाद्य पदार्थ दान करती है। सूर्य का कितना महा-उपकार है कि हमें प्रकाश उष्णता और प्राणदान दे रहा है। परन्तु शक्ति भक्ति वा वायु और बुद्धि जिसे ज्ञान और कमान कह सकते हैं—ये प्रभु की निज दात है ये दोनों अन्दर से उत्पन्न होती हैं। यदि दृष्टि में अमैथुनिक सृष्टि रचने पर भी सब जीवों ने शरीर का पालन पोषण तो बाह्य पदार्थों से किया—वृक्षों वनस्पतियों से परन्तु उनके प्रयोग का ज्ञान और लाने की शक्ति ये सब प्रभु ने स्वयं उनके अन्तःकरण में प्रकट की इसलिए यह सेवा श्रेष्ठतम सेवा कहलाती है। इन झाड़ू से लेकर ज्ञान दान सेवा तक के मध्य में एक और सेवा बड़े शान की है जो इन सब की रक्षा करती है और स्थिर रखती है। वह है शासन। शासन के द्वारा सेवा की सेवा और शासन का शासन। इन सेवादारों की

यह शान है कि हैं तो सेवादार परन्तु लोग इन्हें नमस्कार करते हैं। बस इस नमस्कार करवाने की इच्छा साधारण लोगों में एक जनून पागलपन या मध्य मस्तिष्क में चढ़ाये रखती है। शासक तो कोई-कोई बनता है अपनी विद्वता योग्यता पुरुषार्थ और प्रारब्ध से परन्तु कुछ काल से जो सरकार ने सेल्फ गवर्नमेंट (Self government) के अंश स्थान कमेटियों को रूप में प्रदान किये है उनकी मेम्बरी के लिए लोगों को नशा चढ़ा रहता है। इस वर्ष तो जहां तहां चुनाव का जोर है। दैव योग से यहां टोबा टेकसिंह (पाकिस्तान) में भी होने वाला है।

मैं कल रात को जप करते समय विचार मग्न अवस्था में आ गया और कुछ आज भी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रिय लाला काशीराम मेरे सामने है और उसे मैं कुछ समझा रहा हूँ। बेटा! मेम्बरी, मन में सेवा करने के भाव की दृष्टि से तो बहुत अच्छी वस्तु है परन्तु मस्तिष्क में बड़ा कहलाने के भाव की दृष्टि से तो बहुत बुरी वस्तु है। मेम्बर बनने वाले धन बल और बुद्धिबल की योग्यता तो बहुत से आदमी रक्खे हुए हैं परन्तु (City father) सीटी फादर बनने की योग्यता किसी बिरले में होती है। अपने उत्पन्न

किए हुए बच्चों का बाप बनना या कहलाना ओ आसान है और अपने बच्चों के लिए पिता में पक्षपात या द्वेष नहीं होता और अपना सब सुख और सम्पत्ति भी उनके आराम और दुःख दर्द निवृति में त्याग कर दी जाती है कि वे अपने संतान हैं परंतु परमात्मा की उत्पन्न की हुई प्रजा को बिना पक्षपात और अपना स्वार्थ त्याग किये अपना पुत्र या प्रजा समझना उनसे द्वेष रहित व्यवहार करना किसी विरले (City father) सीटी फादर का काम है। जहां सीटी फादर (City father) ने एक बार अपना बदला लेने के लिए प्रजा के किसी व्यक्ति को दुःख दिया या उसके आराम, सुख, उन्नति के साधन को बन्द करने की युक्तियां सोची। वहां वह परमात्मा के दरबार में अति नीच पद को ढकेला गया। यजुर्वेद अध्याय २७ मन्त्र ३५ में उस राजा को प्रशंसा योग्य समझा गया है जिसे प्रजा ने कर देने से इन्कार कर दिया परन्तु वह राजा जो अपने प्रजा को पुत्र मान कर उनकी रक्षा बिना मानसिक क्लेश के समान करता है ऐसे ही मेम्बरों को भी चाहिए। तुम नेक हो सेवा सहानुभूति का भाव अपने मन में बहुत-बहुत रखते हो यह तुम पर प्रभु की अत्यन्त कृपा है। इस भाव से तुम्हारा मेम्बर बनना शहर के लिए लाभकारी है।

परन्तु मैं तुम्हें यह बल पूर्वक कहूंगा कि तुम मुंह भर (मैम्बर)न बनना। मुंह भर के दो अर्थ हैं अपनी मैम्बरी के लिए अपना मुख फुला-फुला खुशामद प्रशंसा चापलूसी करना और दूसरा मुंह भर का अर्थ है पैसा और खानपान या फल से किसी का मुंह भरना या तीसरा अर्थ भी है परन्तु तुम प्रभु कृपा से इतने निर्लेप हो। मेम्बर इसलिए बनना कि मेम्बर बनकर अपना मुंह भरना अर्थात् घूस कमाते रहें न तुम स्वयं, न तुम्हारे मित्र यार जिसे आजकल लोग पार्टी का नाम देकर बदनाम करते हैं। में तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, कि वेद शास्त्र का जहां तक स्वाध्याय करता हूँ, गूढ़ बातों को छोड़कर, जिन मोटी-मोटी बातों की समझ मुझे आती है और प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखता हूं वह यह है कि परमेश्वर अति ईमानदार है। इस जैसा ईमानदार संसार में न है, न हुआ। यजुर्वेद के अध्याय ८ मन्त्र २ में इसकी अद्भुत् ईमानदारी की प्रशंसा की गई है। ओं कदाचन स्तरीरसि······कि परमात्मा किसी भी मनुष्य के किये शब्द कर्म (चाहे वह ज्ञान से करता हो या अज्ञान से) को कभी नहीं छुपाता। कभी नहीं मारता। कभी नष्ट या कभी नहीं मिटाता। अवश्य में वही इसका फल अपने आप देता हैं बल्कि ऐसे शुभ

कर्म जो प्रभु के अपने दिल पसन्द हैं उनका फल तो दाता को स्वयं समीप आकर पहुँचाता है। कई एक कर्मों का फल तो एक बार नहीं, कई जन्म तक देता रहता है। मैंने देखा कई एक व्यक्ति जो उप तहसील-दारी की उम्मीदवारी के लिए कमिश्नर साहब बहा-दुरों के दरवाजे खटखटाते रहे—सलामिया भरते रहे और निराश लौटाये गये। एक समय आया जब वे राज्य मन्त्री बनाये गए बिना किसी अनुनयविनय के या चढ़ावा चढ़ावे के और वे कमिश्नर उनके आधीन (मातहत) आज्ञा पालन करते रहे। वे वसीला निर्धन जिन्हें स्वयं और उनके माता-पिता के भी स्वप्न में भी विचार न आया होगा बिना किसी अनुरोध और प्रार्थना के डिप्टी बन गए। आई०सी०एस० (I.C.S.) के चुनाव में आ गए। कितने तन से नंगे श्रमी राजा बनकर महलों में ऐश कर रहे हैं। तुम स्वयं अपनी जांच करो। जिस वर्ष पहले-पहल तुम मेम्बर बनाए गए कैसे बनाए गए। तुमको अनुनियविनय कहते थे, तुम्हारे धर्म पिता को प्रार्थना करते थे मुझे बल पूर्वक करते थे कि आप आज्ञा दो काशीराम केवल हस्ताक्षर कर देवे मैंने शर्त लगाई कि इसे किसी को वोट देने के लिए न कहना पड़े तब हस्ताक्षर ले लो। तो सबने यही प्रतिज्ञा की

कि तुम बिना कष्ट, बिना मुकाबले, बिना धन का व्यय के मेम्बर बन गए । उस समय क्या तुम्हारे मन में कभी विचार आता था कि मैं भी मेम्बर बन जाऊंगा या तुम्हारे माता-पिता के ? परमात्मा ने तुम्हारे पूर्व कर्म का फल स्वयं पहुंचकर सबके हृदय में प्रेरणा की और तुम ही सबको अच्छे दृष्टिगोचर होने लगे । बस यही सिद्धान्त है कर्मफल का । अब तुम प्रभु की पूजा भी करते हो । जप, यज्ञ, वेद स्वाध्याय, दान, पुण्य, सेवा, सहानुभूति, सदाचार तुम्हारे अंग हैं । तुम्हें दूसरे लोगों से कोई विशेषता होनी चाहिये । जिस प्रभु के तुम पुजारी हो उसी पर अपनी वागडोर छोड़ दो अगर तुम्हारे पूर्व कर्मों का फल अब भी मेम्बर बनने का है यह सेवा प्रभु तुमसे और देर तक कराना चाहते हैं तो वह स्वयं सबके मन और मस्तिष्क फेर देंगे । तुम्हारी तरफ सबकी दृष्टि होगी । यदि वे अब की बार तुम्हारे लिए यह सेवा पसन्द नहीं करते और कोई अच्छा काम इससे कराना चाहते हैं जो उनको ज्ञात है और हमें नहीं तो सबकी दृष्टि दूसरी ओर बदल देंगे । उदाहरण समझो कि मैं तुम्हारा विश्वासी मित्र हूँ । तुम सब काम मुझसे सम्मति लेकर करते हो किसी काम करने की सम्मति लेने आये तो मैंने उसे दूर दृष्टि से तुम्हारे लिए हानिकारक समझा तो मैं बिना किसी युक्ति दिये के तुमको कहूंगा कि यह काम मैं पसन्द नहीं करता तो मत करो तो तुम नहीं करते

तो तुमको कोई दुःख क्लेश नहीं होता। जब मैं कभी-कभी तुम्हें या तुम्हारे पिता को कई बार रोक देता हूं जो तुम्हें बाहर से अच्छा लगता है। तो जब भी प्रभु रुकावट करेंगे तो समझना चाहिये कि एक बड़ा सच्चा मित्र जो भूत भविष्यत वर्तमान को जानने वाला है जरूर इसमें भलाई होगी तो तुम्हें सन्तोष रहेगा।

परन्तु शर्त यह है कि तुम आवेदन पत्र देकर एकदम निश्चिन्त हो जाओ और जब सब लोगों का इकट्ठे समूह जलसा हो एकबार खुला कह दो कि भाईयों मैंने कुछ मित्रों के कहने से आवेदन पत्र तो दे दिया है यदि आप लोगों को मेरी सेवा पसन्द आई और आप मेरी सेवा अधिक चाहते हों तो मुझे वोट आप दे देना। यदि आपको मैं और मेरा काम रुचिकारक न हो तो मुझे जैसे अपने बनने में खुशी होगी वैसे ही दूसरे आपके मन के अनुकूल सज्जन के बनने में खुशी होगी। मैं न सामना करना चाहता हूं, न सदाचार से गिरना चाहता हूँ, न सामना करने से फूट और ईर्ष्या के बीज बोना चाहता हूं। मैं हर प्रकार से प्रभु इच्छा पर संतुष्ट हूँ। मुझे लज्जा आयेगी जब मैं किसी से कहूँ मुझे अपना पिता बनाओ। मैं किसी अभियान से किसी के दरवाजे कहने या मिन्नत करने के लिए नहीं परन्तु इस लज्जा से कि मुझे City father अर्थात् अपना पिता बनाओ, नहीं आना चाहता। मुझे आप क्षमा रखना मेरे भावों

को जानना । एक बात और भी तुम्हें कहता हूँ जो लोग कार्य को अपनाते और कारण को गंवाते हैं अथवा कारण से उपेक्षा करते हैं उनके कार्य शीघ्र समाप्त हो जाते हैं जो कारण को तो दृष्टि में रखते हैं या रक्षा करते हैं और कार्य की ओर पग नहीं बढ़ाते वे सदा पराधीन रहते हैं वे ही सुखी और सदा बढ़ते हैं जो कारण और कार्य का साथ-साथ ध्यान रखते हैं कोई व्यक्ति दीन दुःखी को सेवा, निर्धन यतीम विधवा की सहानुभूति, व्यवसाय रहित को व्यवसायी बनाना, अपना और बाल-बच्चों परिवार का सुख आराम दान पुण्य यज्ञ मनुष्य तब कर सकता है जब वह सुखी सम्पन्न निज अन्न धन सम्पत्ति की यथेष्ट आय ताजा रखता हो और बचत भी रखता हो उसका साधन है दुकान का कारोबार । यदि सेवा के कार्य में तो रूचि बढ़ गई तो यश मिलेगा परन्तु यश तो बल के बूते पर स्थिर रहेगा । बल आपका है धन, व्यवसाय यदि इसमें कम रुचि हो गई तो कारण की उपेक्षा वृत्ति से सेवा का कार्य कब तक स्थिर रह सकेगा । इसलिए जिसके सहारे आप सब शुभ गुण इकट्ठे कर सकते हैं उस आश्रय के लिए अधिक और तीव्र रुचि और पुरुषार्थ चाहिए जिससे निःसंकोच दीन निर्धन की सेवा सहानुभूति और व्यवसाय हीन लोगों को व्यवसाय दे सको । अपने और अपने बाल-बच्चों को खूब उदरपूर्ति पाल-

पोस सको । इसे कदापि न भुलाना ।

हे प्रभुआश्रित ! तुझे क्या हो जाता है ? तू भक्ति को छोड़ विचार रास्ता में लग जाता है । तू दूसरों को समझाने का बड़ा उत्साही है । तेरा क्या ? तू अपने व्रत में है तू अपने निभा । सब कोई स्वयं बुद्धिमान है । अपने हानि-लाभ को स्वयं समझ सकता है ।......यह तो ठीक है मुझे ऐसा ही चाहिये पर क्या करूं ? मुझे एक बात अन्दर घुसी हुई है कि जो तेरा अन्न से सत्कार और मन से नमस्कार करते हैं यदि उन्हें हानि लाभ का रहस्य नहीं समझायेगा तो उनका पाप जो तेरे समझाने से न करते वह तेरे न समझाने पर तुझे जरूर लगेगा ।

यजुर्वेद अध्याय दूसरे मन्त्र बत्तीस में साफ मांग की गई है–सेवा करने वाले यजमान, पुत्र, शिष्य भगत अपने मित्रों से कह रहे हैं कि हम आपको नमस्कार और अन्न आदि पदार्थों से इसलिए सत्कार करते हैं कि आप आदेश कीजिए । वहां छः प्रकार की आदेश की मांग की गई है । एक मांग इनमें से यह भी है कि 'नमो: वः पितरो घोराय नमो: वः पितरो मन्यवे ।' हमें जनाइये कि हम पापियों से किस तरह बचते रहें विपत्ति में कैसे निर्वाह करें गृहस्थ आश्रम कैसे चलायें । इसलिए मैं विवश हो जाता हूं चाहे कोई मेरी सुने या न सुने माने या न माने । मै उसी मत से उनको कहता हूँ जो मन मेरा उनके अन्न

से बना है और उस नमस्कार के भाव से कहता हूँ जिस भाव से वे मुझे नमस्कार करते हैं यदि वे न माने तो मुझे फिर उनका पाप नहीं लगेगा क्योंकि मनुष्य स्वतन्त्र है। परमात्मा की भी आवाज को ठुकरा देता है। तो फिर मैं क्या वस्तु हूँ। ——

८-९-४६ ५ बजे प्रातः शनिवार १२ भादु एकादशी
"मर्यादा पालन" शुक्लपक्ष

जो मनुष्य जप यज्ञ दान पुण्य उपकार आदि बहुत करता है परन्तु सम्बन्ध धर्म मर्यादा धर्म की ओर ध्यान नहीं देता-अज्ञान से या जानकर या साधारण बात समझ कर तो उसमें कठोरता आ जाती और उसकी वाणी हिंसात्मक बन जाती है। और लोक यश को खा जाती है। धन द्रव्य का फल तो मिलता है। शुभ कर्म नष्ट नहीं होता। परन्तु पवित्रता रहित जीवन अपयश का जीवन होता है। सुखी और शान्त जीवन नहीं प्राप्त होता। ऐसे धर्म कर्म करने वाले को धीरता गम्भीरता और वीरता प्राप्त होती है, यदि इन तीनों गुणों में से किसी या सबकी प्राप्ति होती तो वह दूसरे जन्म में न देव बन सकता है न उच्चकोटि के मनुष्यों में उसकी गिनती होती है। चाहे इसके पास धन जन बुद्धि बल भी हो।

(२) जिस मनुष्य से अपने छोटे बड़े डरें, भय से उसके समीप न आयें या उसके समीप जाने पर हृदय में कांपते रहें कि प्रभु खैर से व्यतीत हो इससे सदा अपने से दूर रहना रुचिकारक हो अथवा खुशामद से या उसके भय के मारे उसके विचारों की पुष्टि करें। उसकी हां

में हां मिलावें चाहे धर्म रहे या न रहे, समय व्यतीत करने के लिए कि हमें कठोर या अपशब्द क्रोध न करने पावे। ऐसे व्यक्ति की महान् तामसिक वृत्ति समझी जाती हैं। यह बुद्धि या वृत्ति साधारणतय तो उन व्यक्तियों की होती है जो परमेश्वर को छोड़ देते हैं, परन्तु कभी उन व्यक्तियों को भी पाला पड़ जाता है जो प्रभु का नाम दिन रात रटते हैं। यह राक्षस वृत्ति फिर क्यों ऐसे व्यक्तियों के उपजती है ? कारण राग द्वेष(मोह, स्वार्थ) अधिक जग जाता है।

बलदा

(३) शारीरिक बल तो पाशविक बल है, मानसिक बल वास्तव में मानव बल है और आत्मिक बल देवों का बल है। यद्यपि शारीरिक बल दूध मलाई मक्खन घी फल मेवा में लोग समझते हैं परन्तु वास्तविकता में ठीक नहीं। भोजन से तो शरीर की स्थिरता और मोटाई पतलाई होती है, बल तो परमेश्वर देता है। वेद में तो साफ है 'ओं बलम् ऽसि बलमे धेहि......' आप बल स्वरूप हो मुझे भी बल दीजिये और 'य आत्म दा बलदा' आप उत्तम ज्ञान और शरीर समाज आत्म को बलदेने हारे हैं। ऋग्वेद मंडल सूक्त ५३ मन्त्र १८ में आया 'ओ३म् बलम् धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रा मसुत्मु नः। बलं तोकाय तनयाय जीव से त्वंहि बलदा असि' बल वाले बल देहमारे शरीरों में, शरीर रूपी छकड़े को चलाने वाले बैल-प्राणों और इन्द्रियों में बल डाल दे, बाल-बच्चों के लिये जीने के लिए बल दे। सचमुच तू ही बलदा है। मानसिक बल तो सदा प्रेम से

और सेवा से बढ़ता है और आत्मिक बल ज्ञान और भक्ति से। राजा का बल प्रजा के प्रेम से प्रजा की सेवा से बढ़ता है। राष्ट्र का बल संगठन और प्रजा नेताओं से बढ़ता है। परिवार का बल एकदम प्रेम और क्षमा से ही बढ़ता है। पति-पत्नी का बल सिवाय प्रेम के और किसी भी साधन से नहीं बढ़ सकता।

(४) गर्भिणी स्त्री की रक्षा कौन कर सकता है ?

(१) पति—(२) माता-पिता। इन दोनों को ही प्रेम होता है। माता-पिता तब रक्षा करते हैं जब पति रक्षा न कर सकता हो अपितु गर्भिणी को जितना लाभ पति सहवास से होता है उतना माता-पिता से नहीं, शर्त यह कि पति-पत्नी में सच्चा प्रेम हो माता-पिता का प्रेम बहुत सच्चा होता ही है उसके कहने की आवश्यकता ही नहीं परन्तु पति प्रेम, पत्नी सहवास पति सेवा से गर्भगत बालक पर सेवा का प्रभाव पड़ता है। सन्तान माता-पिता को सुख देने वाली होती है। जहां गर्भिणी-पति के सहवास और इसकी सेवा से वंचित रहती है वहां सन्तान माता-पिता की सेवा करने वाली उनको सुख देने वाली नहीं होती। माता-पिता का प्रेम विवाहित कन्या से सुलभ नहीं होता जैसा शिशुकाल में होता था। कन्या माता-पिता के मोह को त्याग कर पति का पल्ला (दामन) पकड़ती है और इसके ही प्रेम, पूर्ण प्रेम की अधिकारिणी बन जाती है। अब जो माता-पिता का प्रेम होता है वह मात्र मोह, स्वार्थ या मर्यादा रखने के लिए होता है। *

पूज्य गुरुदेव महा० प्रभु आश्रित जी महाराज
द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची

गायत्री रहस्य	25-00	गृहस्थ सुधार	24-00
दृष्टान्त मुक्तावली	15-00	मन्त्र योग भाग 1 और 2	15-00
पृथिवी का स्वर्ग	10-00	मन्त्र योग भाग 3 और 4	12-50
यौगिक तरंगें	5-00	गृहस्थाश्रम प्रवेशिका	6-00
चमकते अंगारे	4-00	वर घर की खोज	6-00
जीवन सुधार	6-00	विचार विचित्र	4-00
मनोबल	6-00	योग युक्ति	6-00
जीवन निर्माण	12-00	सेवाधर्म	6-00
जीवन यज्ञ	7-00	स्वप्न गुरु तथा देवों का शाप	4-00
सौम्य सन्त की प्रार्थनाएं	5-00	निराकार साकार पूजा	3-00
व्रत अनुष्ठान प्रवचन	2-00	एक अद्भुत किरण	1-50
गायत्री कुसुमाञ्जली	2-00	निर्गुण सगुण उपासना	3-50
बिखरे सुमन	5-00	जीवन गाथा	5-00
समाज सुधार	1-50	दुर्लभ वस्तु	2-00
साधना प्रचार	5-00	भाग्यवान गृहस्थी	1-25
अमृत के तीन घूंट	2-00	संभलो	3-00
आदर्श जीवन	5-00	हवन मन्त्र	3-00
उत्तम जीवन	1-50	जीवन चरित्र पहला भाग	2-00
आत्म चरित्र	9-50	डरो वह बड़ा जबरदस्त है	6-00
पावन यज्ञ प्रसाद	2-00	रहस्य की बातें	10-00
जीवन चरित्र चौथा भाग	3-00	योग दर्शन	8-00
अध्यात्म सुधा भाग चार	18-00	सामवेद	50-00
कर्म भोग चक्र	15-00	यजुर्वेद	60-00

(विशेष शताब्दी पुस्तकें)

प्रभु का स्वरूप	12-00	यज्ञ रहस्य	25-00
आत्म कथा		सन्ध्या सोपान	14-00
महा० प्रभुआश्रित जी की	14-00		

ग्रेजुएट प्रैस, बजरंग भवन के पीछे देहली रोड, रोहतक । फोन : 42673